श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र

आत्मधर्म

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

वर्ष ३६ : अंक ३ [४२३] सितम्बर, १९८०

आत्मधर्म [४२३]

[हिन्दी, गुजराती, मराठी, तामिल तथा कन्नड़ — इन पाँच भाषाओं में प्रकाशित
जैन समाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला आध्यात्मिक मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

कहाँ / क्या

१ छांड़त क्यों नहिं रे !
२ जिसे भव की थकान उतारना हो
३ संपादकीय : जिनवरस्य नयचक्रम्
४ वे परमार्थवादी नहीं हैं
[समयसार प्रवचन]
५ ईर्यासमिति
[नियमसार प्रवचन]
६ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
७ वचनामृत के अमृतकण
८ समाचार दर्शन
९ प्रबंध संपादक की कलम से

क्षमावाणी पर्व के पावन अवसर पर, अज्ञान व प्रमादवश हुए ज्ञात व अज्ञात अपराधों के लिए आत्मधर्म परिवार क्षमाप्रार्थी है। **— संपादक**

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३६ [४२३] अंक : ३

छांड़त क्यों नहिं रे, हे नर! रीति अयानी।
बार-बार सिख देत सुगुरु यह, तू दे आनाकानी॥
॥छांड़त० ॥

विषय न तजत न भजत बोधव्रत, दुःख-सुख जाति न जानी।
शर्म चहैं न लहैं शठ, ज्यौं घृतहेत बिलोवत पानी॥
॥छांड़त० ॥

तन-धन-सदन स्वजन जन तुझ सौं, ये परजाय बिरानी।
इन परिनमन विनश उपजन सौं, तैं दुःख-सुखकर मानी॥
॥छांड़त० ॥

इस अज्ञानतैं चिर दुःख पाये, तिनकी अकथ कहानी।
ताको तज दृग-ज्ञान-चरन भज, निज पर गति शिवदानी॥
॥छांड़त० ॥

यह दुर्लभ नरभव-सुसंग लहि, तत्त्व लखावन बानी।
'दौल' न कर अब पर में ममता, धर समता सुखदानी॥
॥छांड़त० ॥

बीस वर्ष पहले

[इस स्तंभ में आज से बीस वर्ष पहले आत्मधर्म (हिंदी) मे प्रकाशित महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रकाशित किया जाता है।]

जिसे भव की थकान उतारना हो

जिसे अनादिकालीन भव-भ्रमण की थकान लगी है, तथा जो आत्मा की लगनपूर्वक किसी भी प्रकार आत्महित साधना चाहता है—ऐसे जीव के लिये यह बात है।

चाहे जैसा उच्च प्रकार का भोजन हो, किंतु जिसे भूख ही नहीं लगी हो उसे कैसे भायेगा ? उसीप्रकार जिसे भव की थकावट का अनुभव नहीं होता, तथा आत्मा की भूख नहीं लगी है, उसे तो आत्मा के आनंद की बात सुनने में भी अच्छी नहीं लगती, उसकी रुचि जागृत नहीं होती; किंतु जो जीव भव-दुःख से थक गया है, जिसे आत्मशांति की तीव्र क्षुधा जागृत हुई है कि—'अरे रे ! यह आत्मा भव-दुःख से छूटकर चैतन्य की शांति कब प्राप्त करेगा ?' वह आत्मा के आनंद की यह अपूर्व बात अपूर्व रुचि से श्रवण करके समझ जाता है; और उसके भव की थकान उतर जाती है—उसे आत्मा की अपूर्व शांति का अनुभव होता है।

जिसे भव की थकान लगी हो, तथा आत्मा के सुख की भूख जागृत हुई हो, उस भूख के लिये तो यह अमृत है। इस अमृत से अनंत भव की क्षुधा शांत होकर अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है।

— पूज्य कानजी स्वामी

- आत्मधर्म, वर्ष १६, अंक १८२, जून १९६०, पृष्ठ ८६

निश्चय और व्यवहार

[गतांक से आगे]

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि व्यवहार अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उसे निश्चय के समान मानना भ्रम है, उससे सावधान करने की भी आवश्यकता प्रतीत होती है; तो फिर जिनवाणी में उसका उल्लेख ही क्यों है ?

इसलिए कि वह निश्चय का प्रतिपादक है, उसके बिना निश्चय का प्रतिपादन भी संभव नहीं है।

पंचाध्यायीकार ने स्वयं इसप्रकार का प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है, जो इसप्रकार है :—

''तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोऽप्यभूतार्थः।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेऽपि॥६३६॥

ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः।
किमकिंचत्कारित्वाद् व्यवहारेण तथाविधेन यतः॥६३७॥

नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयालम्बि तज्ज्ञानम्॥६३८॥

तस्मादाश्रयणीयः केषांचित् स नयः प्रसंगत्वात्।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम्॥६३९॥

ननु च समीहितसिद्धिः किल चैकस्मान्नयात्कथं न स्यात्।
विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचाराश्च निश्चयादिति चेत्॥६४०॥

नैवं यतोऽस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोऽपि॥६४१॥[१]

इसलिए न्यायबल से यह बात प्राप्त हुई कि व्यवहारनय अभूतार्थ है और जो केवल उस व्यवहारनय का अनुभव करनेवाले हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं और इसलिए वे पथभ्रष्ट हैं।

शंका - यदि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो नियम से निश्चयनय ही आदर करनेयोग्य है, क्योंकि व्यवहारनय अकिंचित्कर है। अतः अपरमार्थभूत उससे क्या प्रयोजन है ?

समाधान - यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि किसी विषय में बलपूर्वक विवाद होने पर और संदेह होने पर या वस्तुविचार के समय जो ज्ञान दोनों नयों का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, वह प्रमाण माना गया है। इसलिए प्रसंगवश किन्हीं को व्यवहारनय का आश्रय करना योग्य है। किंतु वह सविकल्प ज्ञानवालों के समान निर्विकल्प ज्ञानवालों के लिये उपयोगी नहीं है।

शंका - अपने अभीष्ट की सिद्धि एक ही नय से क्यों नहीं हो जाती, क्योंकि विवाद का परिहार और वस्तु का विचार निश्चयनय से ही हो जायेगा, इसलिए व्यवहारनय के मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों नयों में भेद है। वास्तव में निश्चयनय अनिर्वचनीय है, इसलिए तीर्थ की स्थापना करने के लिये वावदूक[२] व्यवहारनय का होना श्रेयस्कर है।

यद्यपि यहाँ व्यवहारनय को 'वावदूक' जैसे शब्द द्वारा प्रतिपादक माना है, तथापि उसकी उपयोगिता स्वीकार की गई है।

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में इसीप्रकार का प्रश्न उठाकर उसका उत्तर समयसार ग्रंथ का आधार लेकर दिया है, तथा स्वयं ने भी बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है, जो मूलतः पठनीय है। उसका कुछ आवश्यक अंश इसप्रकार है:—

'फिर **प्रश्न** है कि यदि वयवहार असत्यार्थ है, तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया ? एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था।

समाधान - ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है:—

---

१. पंचाध्यायी, अध्याय १, श्लोक ६३६ से ६४१

२. वावदूक = बातूनी, बकवादी, अच्छा बोलनेवाला, वक्ता [संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृष्ठ १०४४]

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

अर्थ - जिसप्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिए व्यवहार का उपदेश है।

तथा इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि—

व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः।

इसका अर्थ है — इस निश्चय को अंगीकार करने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं; परंतु व्यवहारनय है सो अंगीकार करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न - व्यवहार बिना निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता? और व्यवहारनय कैसे अंगीकार नहीं करना? सो कहिये।

समाधान - निश्चय से तो आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे उसीप्रकार कहते रहें तब तो वे समझ नहीं पायें; इसलिए उनको व्यवहारनय से शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वी-कायादिरूप जीव के विशेष किये—तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है; इत्यादि प्रकार सहित उन्हें जीव की पहिचान हुई।

अथवा अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुणपर्यायरूप जीव के विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है; इत्यादि प्रकार सहित उनको जीव की पहिचान हुई।

तब निश्चय से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है; उसे नहीं पहिचानते उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको व्यवहारनय से, तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादिरूप वीतरागभाव के विशेष बतलाये; तब उन्हें वीतरागभाव की पहिचान हुई।

इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहार बिना निश्चय के उपदेश का न होना जानना।

तथा यहाँ व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय ही को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है,

उस ही को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं - ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है; उस ही को जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं, ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा परद्रव्य का निमित्त मिटाने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाये। परंतु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन है नहीं; इसलिये आत्मा अपने भाव रागादिक हैं उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिये निश्चय से वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है। वीतराग भावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना है, इसलिये व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा ही श्रद्धान करना।

इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनय का अंगीकार नहीं करना - ऐसा जान लेना।

यहाँ **प्रश्न** है कि व्यवहारनय पर को उपदेश में ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है ?

समाधान - आप भी जब तक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचाने तब तक व्यवहारमार्ग से वस्तु का निश्चय करे; इसलिये निचली दशा में अपने को भी व्यवहारनय कार्यकारी है; परंतु व्यवहार को उपचारमात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे तब तो कार्यकारी हो; परंतु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु इसप्रकार ही है'—ऐसा श्रद्धान करे तो उलटा अकार्यकारी हो जाये।'[१]

निश्चय और व्यवहारनय के कथनों में जो परस्पर विरोध दिखाई देता है, वह विषयगत है। अनेकान्तात्मक वस्तु में जो परस्पर विरोधी धर्मयुगल पाये जाते हैं, उनमें से एक धर्म निश्चय का और दूसरा धर्म व्यवहार का विषय बनता है।

जिस दृष्टि से निश्चय-व्यवहार एक-दूसरे का विरोध करते नजर आते हैं, उसी दृष्टि से

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५१-२५३

वे एक-दूसर के पूरक भी हैं। कारण कि वस्तु जिन विरोधी धर्मों को स्वयं धारण किये हुए हैं, उनमें से एक का कथन निश्चय और दूसरे का कथन व्यवहार करता है। यदि दोनों नय एक पक्ष को ही विषय करने लगें तो दूसरा पक्ष उपेक्षित हो जावेगा। अतः वस्तु के संपूर्ण प्रकाशन एवं प्रतिपादन के लिये दोनों नय आवश्यक हैं, अन्यथा वस्तु का समग्र स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पावेगा।

जहाँ एक ओर निश्चय और व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबंध है; वहीं दूसरी ओर व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक संबंध भी है।

निश्चय प्रतिपाद्य है और व्यवहार उसका प्रतिपादक है। इसीप्रकार व्यवहार निषेध्य है और निश्चय उसका निषेधक है।

समयसार में कहा है:—

''एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥२७२॥[१]

इसप्रकार निश्चयनय द्वारा व्यवहारनय निषिद्ध हो गया जानो। निश्चयनय का आश्रय लेनेवाले मुनिराज निर्वाण को प्राप्त होते हैं।''

इस संबंध में पंचाध्यायीकार के विचार भी दृष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं:—

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात्॥५९८॥
व्यवहारः स यथा स्यात् सद् द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः॥५९९॥[२]

व्यवहारनय प्रतिषेध्य (निषेध करनेयोग्य) है और निश्चयनय उसका निषेधक अर्थात् निषेध करनेवाला है। अतः व्यवहार का प्रतिषेध करना ही निश्चयनय का वाच्य है।

जैसे द्रव्य सद्रूप है और जीव ज्ञानवान है ऐसा कथन व्यवहारनय है। और 'न' इस पद द्वारा निषेध करना ही निश्चयनय है, जो कि सब नयों में मुख्य है, नयाधिपति है।''

जब व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक है तो वह निश्चय का विरोधी कैसे हो सकता है ?

---

१. समयसार, गाथा २७२
२. पंचाध्यायी, अध्याय १, श्लोक ५९८-५९९

जहाँ एक ओर यह बात है; वहीं दूसरी ओर यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि यदि निश्चय-व्यवहार में विरोध नहीं है तो फिर निश्चय व्यवहार का निषेध क्यों करता है ?

गंभीरता से विचार करें तो इसमें अनुचित लगने जैसी बात नहीं है। क्योंकि इसप्रकार की स्थितियाँ लोक में भी देखने में आती हैं।

शतरंज के दो खिलाड़ी हैं। उन्हें आप मित्र कहेंगे या विरोधी ? वे परस्पर पूरक भी हैं और प्रतिद्वंद्वी भी। पूरक इसलिए कि दूसरे के बिना खेल ही नहीं हो सकता; प्रतिद्वंद्वी बिना, खेले किससे ? अत: शतरंज के खेल में प्रतिद्वंद्वी पूरक ही तो है। जब वह प्रतिद्वंद्वी है, तो विरोधी ही है; क्योंकि विरोधी ही तो प्रतिद्वंद्वी होता है। पूरक होने से मित्र भी है, क्योंकि मित्र ही तो आपस में खेलते हैं, शत्रुओं से खेलने कौन जाता है ?

इसप्रकार हम देखते हैं कि शतरंज के दो खिलाड़ी परस्पर मित्र भी हैं और विरोधी भी।

आप कह सकते हैं कि यह कैसे हो सकता है कि एक ही व्यक्ति एक साथ हमारा मित्र भी हो और शत्रु अर्थात् विरोधी भी। पर अपेक्षा ध्यान में रखकर गहराई से विचार करेंगे तो सब-कुछ स्पष्ट हो जावेगा।

जीवन में वे दोनों मित्र ही नहीं, घनिष्ट मित्र हैं। उनमें ऐसी मित्रता देखी जा सकती है कि एक-दूसरे के पीछे जान की भी बाजी लगा सकता है; पर खेल में प्रतिद्वन्द्वी-विरोधी शत्रु भी ऐसे कि चाहे जान चली जाए पर सामनेवाले के बादशाह को शह दिये बिना न मानेंगे; प्यादे को ही नहीं, वजीर को भी मारे बिना न रहेंगे। जीवन में वे एक-दूसरे को क्षमा कर सकते हैं, पर खेल में नहीं; खेल में तो उसे हराने की निरंतर जी-जान से कोशिश करते हैं। न करें तो फिर खेल में वह आनंद न आवेगा जो आना चाहिए।

खेल में खेल के प्रति ईमानदार, खेल के पक्के; और जीवन में जीवन के प्रति ईमानदार, जीवन के पक्के—जैसे दो खिलाड़ी होते हैं; वैसे जिनवाणी में भी दोनों नय अपने-अपने विषय के पक्के हैं। जिसका जो विषय है, उसे वे अपना-अपना विषय बनाते हैं। विषयगत विरोध के कारण वे परस्पर विरोधी भी हैं और सम्यक्श्रुतज्ञान के भेद होने से अभिन्न साथी भी। दोनों ही अपने काम के पक्के हैं, अपने-अपने काम पूरी ईमानदारी से बखूबी निभाते हैं।

व्यवहार का काम भेद करके समझाना है, संयोग का भी ज्ञान कराना है; सो वह अभेद-अखंड वस्तु में भेद करके समझाता है, संयोग का ज्ञान कराता है; पर भेद करके भी वह

समझाता तो अभेद-अखंड को ही है, संयोग से भी समझाता असंयोगी तत्त्व को ही है। तभी तो उसे निश्चय का प्रतिपादक कहा जाता है। यदि वह अभेद, अखंड, असंयोगी तत्त्व को न समझावे तो उसे निश्चय का प्रतिपादक कौन कहे ?

और निश्चय का काम व्यवहार का निषेध करना है; निषेध करके अभेद, अखंड, असंयोगी तत्त्व की ओर ले जाना है—यही कारण है कि वह अपने विरोधी प्रतीत होनेवाले अभिन्न-मित्र व्यवहार का भी बड़ी निर्दयता से निषेध कर देता है। साथी समझकर किंचित् मात्र भी दया नहीं दिखाता, दिखावे तो अपने कर्तव्य का पालन कैसे करे ?

यदि वह व्यवहार का निषेध न करे तो निश्चय के विषयभूत शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे हो; आत्मा का अनुभव कैसे हो ? आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए ही तो यह सब प्रयास है। 'व्यवहार तो हमारा मित्र है—उसका निषेध कैसे करें ?'—यदि इस विकल्प में उलझ जावें तो फिर उसका भूतार्थपना ही नहीं रहेगा।

निश्चय व्यवहार का निषेध कोई द्वेष के कारण थोड़े ही करता है; वह निषेध्य है, इसलिए निषेध करता है। उसकी सार्थकता ही उसके निषेध में है। उसका प्रयोग भी साबुन की भाँति निषेध के लिये ही होता है।

जिसप्रकार साबुन लगाये बिना कपड़ा साफ होता नहीं और साबुन लगी रहने पर भी कपड़ा साफ नहीं होता। साबुन लगाकर धोने से कपड़ा साफ होता है। साबुन लगाया ही धोने के लिये जाता है। उसकी सार्थकता ही लगाकर धो डालने में है। यह कोई नहीं कहता कि जब साबुन ने आपके कपड़े को साफ कर दिया तो अब उसे भी क्यों निकालते हो ?

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिये व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिये व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

व्यवहार का प्रयोग भी जिनवाणी में प्रयोजन से ही किया गया है और निषेध भी प्रयोजन से ही किया गया है। जिनवाणी में बिना प्रयोजन एक शब्द का भी प्रयोग नहीं होता। लोक में भी बिना प्रयोजन कौन क्या करता है ? कहा भी है:—

''**प्रयोजनमनुदिश्य मंदोऽपि न प्रवर्तते।**

प्रयोजन के बिना तो मंद से मंद बुद्धि भी प्रवृत्ति नहीं करता फिर बुद्धिमान लोग तो करेंगे ही क्यों ?''

समस्त जिनवाणी ही एक आत्मप्राप्ति के उद्देश्य से लिखी गई है—इसी उद्देश्य से निश्चय और व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक एवं व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक संबंध माना गया है। [क्रमशः]

आचार्य कुन्दकुन्द रचित अद्वितीय आध्यात्मिक ग्रंथ श्री समयसार के

तलस्पर्शी अध्ययन के लिए तुरंत मंगाइये

पूज्य श्री कानजीस्वामी के

समयसार पर हुए नवीनतम प्रवचनों का सरल एवं बोधगम्य भाषा में संकलन

प्रवचन रत्नाकर (गुजराती)

भाग १ : मूल्य ६.५० रुपये भाग २ : मूल्य ५.००

समयसार के शेष प्रवचनों व अन्य परमागमों के प्रवचनों के संकलन भी क्रमशः अतिशीघ्र प्रकाशित होने जा रहे हैं।

स्वाध्यायप्रेमी बंधुओं को कम मूल्य में उपर्युक्त संकलन उपलब्ध कराने हेतु निम्न योजना भी है :—

बीस हजार रुपये प्रदान करनेवाले सज्जन का चित्र भविष्य में प्रकाशित होनेवाले भाग (५००० प्रतियों) में प्रकाशित किया जाएगा तथा १०० प्रतियाँ भेंटस्वरूप दी जायेंगी।

दस हजार रुपये प्रदान करनेवाले सज्जन का चित्र भविष्य में प्रकाशित होनेवाले भाग की २५०० प्रतियों में प्रकाशित किया जायेगा तथा ५० प्रतियाँ भेंटस्वरूप दी जायेंगी।

नोट - उपर्युक्त संकलनों का हिंदी अनुवाद भी पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित किया जा रहा है। इस संबंध में उनसे पत्र व्यवहार करें।

प्राप्ति स्थान :— **(१) कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रकाशन ट्रस्ट,**

१७३-१७५, मुम्बादेवी रोड, बम्बई ४०००० २

(२) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) ३६४२५०

वे परमार्थवादी नहीं हैं

अप्पाणमयाणंता मूढ़ा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति॥३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुंभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवे अवरे कम्माणुभागंमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीववो॥४१॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केई जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति॥४२॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिदिट्ठा॥४३॥

आत्मा को न जानते हुए पर को आत्मा कहनेवाले कोई मूढ़ तो अध्यवसान को और कोई कर्म को जीव कहते हैं।

अन्य कोई अध्यवसानों में तीव्र मंद अनुभागगत को जीव मानते हैं और कोई और दूसरे नोकर्म को जीव मानते हैं।

अन्य कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं, कोई 'जो तीव्र-मंदतारूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है, वह जीव है'—इसप्रकार कर्म के अनुभाग को जीव इच्छते हैं।

कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुओं को ही जीव मानते हैं और अन्य कोई कर्म के संयोग से ही जीव मानते हैं।

इसप्रकार तथा अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि जीव पर को आत्मा कहते हैं। उन्हें निश्चयवादियों (सत्यार्थवादियों) ने परमार्थवादी (सत्यार्थवक्ता) नहीं कहा है।

यहाँ जीव और अजीव रंगभूमि में एक होकर प्रवेश करते हैं। अज्ञान के कारण वे दोनों एक ही भासित होते हैं। इन गाथाओं में आचार्यदेव ने स्पष्ट किया है कि अज्ञानी अध्यवसान, कर्म, अनुभाग, नोकर्म, कर्म का उदय आदि को जीव मानते हैं; परंतु वे परमार्थवादी नहीं हैं।

इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण नपुंसकता से अत्यंत विमूढ़ होते हुए तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्मा को न जाननेवाले बहुत से अज्ञानीजन अनेक प्रकार से पर को भी आत्मा कहते हैं; बकते हैं।

अज्ञानी जीव आत्मा को किसप्रकार मानते हैं—इसका स्पष्टीकरण आठ बोलों से किया गया है। टीकाकार आचार्य अमृतचंद्रदेव तो पर को आत्मा माननेवाले जीव को नपुंसक कहकर संबोधित करते हुए कहते हैं कि अज्ञानी जीव आत्मा के असाधारण लक्षण को नहीं जानते, इसलिये नपुंसकत्व से अत्यंत विमूढ़ होकर पर को ही आत्मा कहते हैं।

यदि आत्मा का असाधारण लक्षण जान लिया जाए तो जीव का पर को आत्मा माननेरूप नपुंसकभाव टल सकता है। इसलिए असाधारण लक्षण से आत्मा की पहिचान करके सच्चा पुरुषत्व प्रगट करना चाहिए।

ज्ञान आत्मा का असाधारण लक्षण है, अर्थात् वह आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता। इंद्रियाँ और आत्मा मिलकर ज्ञान उत्पन्न करते हों, ऐसा नहीं है; अपितु ज्ञान आत्मा का ही स्वभाव है। न्याय और तर्क से विचार करने पर स्पष्ट भासित होता है कि ज्ञान आत्मा का लक्षण है, जड़ का नहीं।

लक्षण द्वारा लक्ष्य की पहिचान होती है। अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु का पृथक्‌रूप से ज्ञान करानेवाले हेतु को लक्षण कहते हैं। ज्ञान आत्मा का आत्मभूत लक्षण है, वह आत्मा से कभी पृथक् नहीं हो सकता, क्योंकि गुण और गुणी अलग नहीं हो सकते। जैसे गुड़ और मिठास परस्पर अभेद हैं, उसीप्रकार गुण और गुणी भी परस्पर अभेद हैं।

देह-मन-वाणी तो आत्मा का लक्षण है ही नहीं, परंतु रागादि विभाव भी आत्मा का लक्षण नहीं है। रागादि से भिन्न ज्ञान ही आत्मा का निर्दोष लक्षण है। ज्ञान लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा असंभव—इन तीनों दोषों से रहित है, इसलिए वही निर्दोष है।

इस ज्ञान लक्षण को न जानने से आत्मा अत्यंत मूढ़ हो रहा है। आचार्यदेव कहते हैं कि तू भीतर से जागने का पुरुषार्थ न करे तथा पर को आत्मा मानकर उसमें से सुख माने तो तू

नपुंसक है, पुरुषार्थहीन है। नपुंसक जैसे कठोर शब्द का प्रयोग करते हुए भी आचार्यश्री के हृदय में करुणा विद्यमान है।

अज्ञानी अपने आत्मबल को भूलने के कारण नपुंसक हो रहा है। आत्मा में पुण्य-पाप भावों को नष्ट करके केवलज्ञान प्रगट करने की सामर्थ्य है, परंतु यह जीव अपनी सामर्थ्य को भूलकर मूढ़ होता हुआ पर को ही आत्मा मान रहा है। इस मान्यता का फल निगोद है, जहाँ मात्र नपुंसक वेद है और अनंत काल तक जहाँ से निकलना कठिन है।

जो आत्मा को नहीं जानता वह वर्तमान में ही भाव की अपेक्षा नपुंसक है तथा भविष्य में भी आलू, शकरकंद आदि में जन्म लेकर द्रव्य से भी नपुंसक होगा। स्मरण रहे कि आलू शकरकंद आदि में भी आत्मा है, उसे निगोदिया जीव कहते हैं।

देवगति में स्त्री और पुरुष दोनों ही होते हैं, नपुंसक नहीं होते। नरक में मात्र नपुंसक ही होते हैं। मनुष्यभव प्राप्त करके महाहिंसा करनेवाले, मधु-माँस-मद्य का सेवन करनेवाले, गर्भपात करनेवाले जीव नरक में जाते हैं। तथा जो तत्त्व का विरोध करते हैं, आत्म-स्वभाव को न जानकर विपरीत श्रद्धा करते हैं, वे निगोद में जाते हैं। आत्मा की पहचान करके आत्मा की साधना करनेवाले मोक्ष जाते हैं।

भाई! त्रस पर्याय की उत्कृष्ट स्थिति दो हजार सागर की ही है। इसके पूर्व अनंत काल से जीव निगोद में ही रहा। चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ यह त्रस पर्याय प्राप्त करके आत्मा की पहचान करके उसी में एकाग्रता करे तो सादि-अनंत काल के लिये मोक्षदशा में अनंत सुखी रहेगा, अन्यथा पुनः निगोद में अनंत दुखी होना पड़ेगा।

नरक की अपेक्षा निगोद में अनंत गुना दुःख है, क्योंकि बाह्य संयोग दुःख का कारण नहीं है, किंतु अज्ञान भाव अर्थात् मूढ़ता ही दुःख का कारण है। कोई व्यक्ति अग्नि में झुलस जाए इसलिए दुःखी है ऐसा नहीं है, किंतु देह में एकत्वबुद्धि के कारण 'मैं जल गया' ऐसी मूढ़ता के कारण ही वह दुःखी है। इसीप्रकार बाह्य में अनुकूल संयोग मिलने से जीव सुखी नहीं होता, परंतु पर में सुख की मिथ्या कल्पना करने से दुःखी ही होता है।

आचार्यदेव इस जीव की अज्ञानता पर करुणा करके नरक निगोद आदि के दुःखों से बचाने के लिये 'ज्ञान' लक्षण से आत्मा को समझने की प्रेरणा देते हैं। शरीर का प्रत्येक रजकण आत्मा से भिन्न है और रूपी है। पुण्य-पाप की वृत्ति भी आत्म-स्वभाव में नहीं है—इस अपेक्षा

से वह भी रूपी है, जड़ है। पुण्य-पाप से भी भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा ही अरूपी चैतन्यपदार्थ है। उसके परिचय बिना आत्मा में एकाग्रता कहाँ से होगी ? और आत्मा में लीन हुए बिना जीव सुखी कैसे होगा ?

असाधारण लक्षण से पहिचाने बिना आत्मा की सच्ची पहचान नहीं हो सकती। असाधारण लक्षण अर्थात् ज्ञान आत्मा में ही है, अन्यत्र नहीं, शास्त्र या गुरु से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह आत्मा का ही स्वभाव है; अत: जाननेरूप आत्मा ही परिणमित होता है, शास्त्रादि तो निमित्तमात्र हैं।

आत्मा का जो आंतरिक अरूपी बल है, वह आत्मा में अर्थात् अपने में ही है। जो पर को अपना मानता है, वह अपने आत्मवीर्य को नहीं पहिचानता। वह शरीरादि को ही अपना मानकर उन्हीं में अटक कर वीर्यहीन हो रहा है। उसे आचार्यदेव अनंत करुणा करके समझाते हैं—भाई! तू ''अनंत ज्ञान-दर्शन-वीर्य आदि अनंत गुणों का अविनाशी अखंड पिंड है। अपने स्वभाव में एकाग्रता करके अल्प काल में केवलज्ञान और अनंत सुख प्रगट कर सकता है। देहादि को अपना मानकर क्यों वीर्यहीन हो रहा है ? यदि तत्त्व को समझ ले तो मोक्ष और तत्त्व को न समझे तो निगोद है। बीच में त्रस पर्याय होती है, उसे गौण कर दिया जाए तो सीधा निगोद ही है और तत्त्व को समझने के बाद जो एक दो भव होते हैं, उन्हें गौण कर दिया जाए तो सीधा सिद्ध है।''

अपने आत्मस्वभाव को भूलकर यह जीव किसप्रकार पर में एकत्व बुद्धि करता है—यह स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव कहते हैं:—

कोई तो ऐसा कहते हैं कि स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन जो अध्यवसान (मिथ्या अभिप्राययुक्त विभाव परिणाम), वह ही जीव है; क्योंकि जैसे कालेपन से अन्य अलग कोई कोयला दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नहीं देता।

जब व्यापार में लाभ होता है तब प्रसन्नता होती है और जब हानि होती है तब दु:ख होता है। यह प्रसन्नता और दु:ख अंतरंग में होनेवाला राग-द्वेषरूप विकारी भाव है। अज्ञानी जीव इस विकारीभाव को ही जीव समझते हैं—जबकि यह भ्रांति है, विपरीत अभिप्राय है, क्योंकि आत्मा वास्तव में विकारी भावों से भिन्न ज्ञानानंद-स्वभावी है। राग-द्वेषरूप मलिन परिणाम आत्मा का स्वभाव नहीं है।

अज्ञानी जीव कोयले और कालेपन की भाँति आत्मा और राग को एक मानता है। जैसे गुण और गुणी परस्पर अभेद हैं; उसीप्रकार वह अध्यवसान और आत्मा को एक मानता है।

आत्मा तो रागरहित वीतराग स्वभावी है, उसका आश्रय करने से तो रागादिभाव उत्पन्न ही नहीं होते, अत: वे आत्मा का स्वभाव कैसे हो सकते हैं ? परंतु आत्मस्वभाव पर दृष्टि न होने से अज्ञानी को राग ही आत्मा भासित होता है।

रागादि विकारी भाव आत्मा की ही पर्याय में होते हैं, किंतु वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। पुस्तक दवात कलम इत्यादि में राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि जिसमें श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि गुण नहीं हैं, उसमें मिथ्यात्व-अज्ञान-रागादि अवगुण कैसे हो सकते हैं ? जिसमें गुण होता है, उसी में उससे विपरीततारूप अवगुण होता है। चारित्रगुण आत्मा में है, इसलिए रागादि अवगुण भी आत्मा की पर्याय में ही होते हैं; परंतु वे आत्मा का स्वभाव नहीं, अपितु गुण की विपरीतता है; इसलिए जो अवगुण हैं सो आत्मा नहीं हैं, अपितु आत्मा से भिन्न हैं, अनात्मा हैं।

अब आचार्यदेव अज्ञानी की दूसरी विपरीत मान्यता स्पष्ट करते हैं:—

कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनंत जिसका भविष्य का अवयव है, ऐसी एक संसरणत्व (भ्रमणरूप) कियारूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता।

पूर्व में जैसे राग-द्वेष भाव किये थे, उसीप्रकार नर-नारकादि भाव मिलते हैं, इसका कारण पूर्व अवयव अर्थात् पूर्वकृत कर्म का फल है। कुछ अज्ञानी इन कर्मों को ही आत्मा मान लेते हैं। किंतु भाई ! वे कर्म तेरी ही भूल के कारण बँधे हैं, अर्थात् तू अपनी ही भूल में परिभ्रमण कर रहा है। यदि तू अपनी भूल को दूर कर तो कर्म छूट जायेंगे। परिभ्रमण करने में कर्म तो निमित्त मात्र हैं, तुझे अपनी भूल की खबर नहीं है, इसलिए कर्म को ही परिभ्रमण का कारण मान बैठा है।

पूर्वबद्ध कर्म मुझे अभी दुख दे रहे हैं; इसीप्रकार वर्तमान में बँधनेवाले कर्म मुझे भविष्य में दु:खी करेंगे—इसप्रकार अज्ञानी कर्म को दु:ख का कारण मानते हैं। वे कर्म रास्ता देवें तो मोक्षमार्ग होगा—ऐसा मानते हैं। इसप्रकार वे कर्म को ही आत्मा मानते हैं। किंतु वे यह विचार नहीं करते कि कर्म तो जड़ हैं, वे मुझे सुखी या दु:खी कैसे कर सकते हैं ? मेरी सत्ता में

कर्म की सत्ता का प्रवेश ही नहीं हो सकता तो मुझे वे सुखी दु:खी कैसे कर सकते हैं ? यदि जीव, कर्म से भिन्न आत्मा की शक्ति को पहचाने तो सुखी हो सकता है।

कुछ लोग चाहते हैं कि हमें निरंतर मनुष्यभव मिलते रहें, हमारी सोने चाँदी की दुकानें चलती रहें और हम सुखी रहें—बस, फिर हमें मुक्ति नहीं चाहिए। किंतु उन्हें नहीं मालूम कि मुक्ति मिलना तो दूर निरंतर मनुष्यभव धारण करनेयोग्य पुण्य भी नहीं बँध सकता, क्योंकि आत्मा की प्रतीति के बिना पुण्यभाव के बाद पापभाव का आना अवश्यम्भावी है।

शुभ परिणाम भी विकार है, और विकार मेरा स्वभाव नहीं है, मुझमें विकार का नाश करने की शक्ति है—अज्ञानी को इसकी खबर नहीं है, उसकी दृष्टि तो पुण्य पर है, इसलिए उसे पुण्य की अधिक स्थिति बँधती है। ज्ञानी की दृष्टि स्वभाव पर है, वे पुण्य को स्वभाव नहीं मानते, इसलिए उन्हें पुण्य की थोड़ी स्थिति बँधती है, परंतु रस अधिक पड़ता है। ज्ञानी को बँधनेवाली पुण्य की उत्कृष्ट स्थिति अन्त:कोड़कोड़ी सागर है। अज्ञानी को बँधनेवाले पुण्य की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर है, किंतु पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम का पुण्य भोगने का इस जगत में कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि त्रसपर्याय की स्थिति दो हजार सागर से अधिक की नहीं है।

अज्ञानी की दृष्टि परपदार्थों पर है, वह शुभभाव से धर्म मानता है, किंतु इसे पुण्य-पाप के नाशक स्वभाव की खबर नहीं है, इसलिए वह पाप करके पुण्य की स्थिति तोड़कर निगोद चला जाएगा। ज्ञानी की दृष्टि शुद्धस्वभाव पर है, इसलिए वह पुण्य की बाँधी हुई स्थिति को तोड़कर शुद्ध में चला जाएगा। ज्ञानी शुभ परिणाम को तोड़कर शुद्ध में चला जाएगा और अज्ञानी शुभ को तोड़कर अशुभ में चला जाएगा।

जो जीव कर्म को ही आत्मा मानते हैं, उन्हें यह खबर नहीं है कि कर्मों का नाश करके वीतरागता प्रगट करनेवाले हम ही हैं, इसलिए वे जीव संसार में ही परिभ्रमण करते रहेंगे।

आत्मा तो अनादि काल से सुखस्वभावी ही है, परंतु इस सुखस्वभाव को भूलने से अनादि से कर्मों का संयोग भी है। जब तक कर्मों से भिन्न आत्मा की प्रतीति न हो तब तक उसे कर्मों से अलग करने का पुरुषार्थ नहीं किया जा सकता। जिस स्थान पर ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा है, उसी स्थान पर कर्म की उपाधिरूप विकार दिखाई देता है, इसलिए उसमें एकत्वबुद्धि होन से यह जीव उससे भिन्नता का पुरुषार्थ नहीं करता।

चैतन्यसत्ता कर्म और कर्मोपाधि से भिन्न है—ऐसा सुनने, समझने और मनन करने का भी पुरुषार्थ जिसके नहीं है, वह कहीं न कहीं अपने अस्तित्व को स्वीकार करेगा ही, इसलिए वह कर्म को ही आत्मा मानकर उसमें अटक जाता है, वह संसार में परिभ्रमण-क्रिया करते हुए कर्म को ही आत्मा मान लेता है।

बहुत से लोग कहते हैं कि कर्मों का बल हो तो हमारा बल कैसे चल सकता है ? ऐसे लोगों को अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है, कर्म की शक्ति पर ही विश्वास है, इसलिए वे कर्म को ही आत्मा मानते हैं।

इसप्रकार अज्ञानी की मान्यता स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव अज्ञान दूर करने की प्रेरणा देते हैं कि भाई ! तू जड़कर्मों से भिन्न ज्ञानमूर्ति आत्मा है। उसकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता द्वारा कर्मों से भिन्न मुक्त अवस्था प्रगट करने का प्रयत्न कर।

छपते-छपते

श्री कुंदकुंद-कहान-तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट एवं सर्वोदय ट्रस्ट को भारी योगदान

विगत दिनों पंडित ज्ञानचंदजी सोनगढ़, अहमदाबाद, बड़ौदा, तथा दाहोद पधारे। सभी स्थानों पर आपके तात्त्विक प्रवचनों का आयोजन किया गया। इस क्रम में कुंदकुंद कहान ट्रस्ट को सोनगढ़ से २७,४६१ रुपये, बड़ौदा से ४५,१०२ रुपये तथा दाहोद से १२,६२३ रुपये—इसप्रकार कुल ८५,१८६ रुपये नगद प्राप्त हुए। सभी स्थानों पर समाज ने उक्त ट्रस्टों द्वारा किये जा रहे कार्यों की सराहना की।

— माणिकलाल आर० गाँधी

फरवरी सन् १९८१ में होनेवाली जनगणना में धर्म के कालम में जैन लिखाऐं

ईर्यासमिति

परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम 'नियमसार' की ६१वीं गाथा एवं उसमें समागत श्लोकों पर हुए पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है:—

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स॥६१॥

जो भ्रमण प्रासुक मार्ग में दिन में धुरा प्रमाण भूमि आगे देखकर चलते हैं, उन्हें ईर्यासमिति होती है।

मुनि को छठे गुणस्थान में शुद्धपरिणति होने पर भी वहाँ शुभविकल्प भी होता है। उसमें देखकर चलना—ऐसा विकल्प उठता है, उसे व्यवहारईर्यासमिति कहते हैं। व्यवहार इसलिए कहने में आता है कि वहाँ साथ में शुद्धपरिणति वर्तती है। तीर्थंकर को भी छठे गुणस्थान में ऐसा शुभविकल्प उठता है—उसमें हठ नहीं है; बाहर की क्रिया को मैं करूँ अथवा रोकूँ—ऐसी बुद्धि धर्मी को नहीं होती। अज्ञानी को शुद्धपरिणति के बिना शुभोपयोग होता है, उसे तो व्यवहारसमिति भी नहीं कहा जाता।

परमसंयमी मुनि को (अर्थात् मुनियोग्य शुद्धपरिणतिवाले मुनि को) शुद्ध परिणति के साथ वर्तता जो (हठरहित) ईयासंबंधी (गगनसंबंधी) शुभोपयोग वह व्यवहारईर्यासमिति है। शुद्धपरिणति के अभाव में शुभोपयोग हठसहित होता है, उस शुभोपयोग को तो व्यवहारसमिति भी नहीं कहते। (इसीप्रकार अन्य समितियों में भी समझना)।

व्यवहारसमिति कहीं शरीर की क्रिया में नहीं है, वह तो आत्मा का शुभभाव है। जिसको आत्मा का भान है, वीतरागी शुद्धपरिणति विशेष वर्त रही है, ऐसे परमसंयमी मुनि को छठे गुणस्थान में गुरुयात्रा, देवयात्रा, तीर्थयात्रा आदि के शुभविकल्प होने पर मार्ग में सावधानीपूर्वक देखकर चलने का भाव आता है, वह ईर्यासमिति है। ऐसा शुभविकल्प आवे वह छठे गुणस्थान का काल है, मुनि को उसका हठ नहीं होता, वह उस स्थिति को जानकर यह

समझता है कि अभी इसप्रकार के विकल्प का काल है। विकल्प के काल में विकल्प आ गया, देह की क्रिया अपने काल में हो गई, वहाँ मुनि की शुद्धपरिणति टिकी रहती है, अत: विकल्प को आरोप से व्यवहारसमिति कहा जाता है। किंतु यदि ऐसा माने कि देह की क्रिया मैं करता हूँ तब तो वह जड़ के परिग्रह का स्वामी हो जायेगा, वह मूढ़है, उसको व्यवहार से भी व्रत या समिति नहीं होती।

भावलिंगी संत मुनि को भी सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा का भाव छठे गुणस्थान में होता है। भगवान समवसरण में विराजते हों वहाँ उनके दर्शन करने के लिए जाने का भाव होता है, वह देवयात्रा का भाव है। गुरु विराजते हों उनके पास श्रवण आदि करने के लिए जाने का विकल्प उठे, वह गुरुयात्रा है। ऐसे प्रयोजन के उद्देश्य से मुनि गमन करें तब चार हाथ प्रमाण मार्ग देखकर जीवों की रक्षा करते हुए चलते हैं, उनके ईर्यासमिति होती है।

देवयात्रा, गुरुयात्रा, तीर्थयात्रा, आहार, दूसरे मुनि की वैयावृत्त्यादि के प्रसंग पर छठे गुणस्थानवाले मुनि को शुभविकल्प उठता है। पुष्पदंत और भूतबलि मुनिराज विहार करते हुए गिरनार पर आये थे, श्रीधरसेनाचार्यदेव ने श्रुतरक्षा के हेतु से उनको बुलाया था। वहाँ उनको स्वप्न आया कि श्रुत का भार वहन कर सकें—ऐसे श्वेत वृषभ जैसे दो महासंत आकर उनके चरणों में नमते हैं, अर्थात् उनके ऐसा उद्‌गार निकला कि 'जय हो श्रुतदेवता की'। वे मुनि विहार करके श्रीधरसेनाचार्य के पास आये और उन्होंने उन दोनों को षट्‌खंडागम का ज्ञान कराया, पश्चात् उन दोनों मुनियों ने सूत्ररूप में षट्‌खंडागम की रचना की और जेठ सुदी पंचमी को श्रुतज्ञान का विशेष महोत्सव किया कि अहो! भगवान की दिव्यध्वनि का अंश इसमें रह गया है।

मुनि को भी शास्त्र के बहुमान और महोत्सव का विकल्प आता है, छठे गुणस्थान में वैसा शुभभाव होता है। ज्ञातादृष्टापने रहकर, शुभराग आता है, उसको जानते हैं। इसप्रकार का राग क्यों आया?—ऐसा माने तो उसे छठे गुणस्थान की स्थिति का ही बोध नहीं है। और यदि उस राग से लाभ माने तब तो वह अज्ञानी ही है। मुनि को राग की भावना नहीं है, साथ ही उसको टालने का हठ भी नहीं है। जड़ की क्रिया उसके अपने काल में होनी हो वह हो जाती है। मुनि को 'शास्त्र रचूँ' ऐसा विकल्प उठे, वहाँ भी शास्त्र-रचना की क्रिया का स्थामी वह नहीं होता।

श्री प्रवचनसारजी में टीका पूर्ण करते हुए अंत में श्री अमृतचंद्रदेव कहते हैं:—

वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप से परिणमित हुए हैं, आत्मा उनको परिणमन नहीं करा सकता; उसीप्रकार वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयपने-प्रमेयपने परिणमते हैं, शब्द उनको ज्ञेय नहीं बना सकते—समझा नहीं सकते। इसलिए 'आत्मासहित विश्व वह व्याख्येय है—समझानेयोग्य है, वाणी की गूँथनी वह व्याख्या है, और अमृतचंद्रसूरि व्याख्याता-समझानेवाले हैं'—इसप्रकार मोह से न नाचो (मत प्रफुल्लित होओ); अपितु स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्धज्ञान की कला द्वारा इस एक संपूर्ण शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज ही (जनों) अव्याकुलपने नाचो (परमानंद परिणाम से परिणमो)?

विकल्प था तो ऐसा बोलने में आया कि आत्मा ने यह शास्त्र रचा, परंतु यह तो कथनमात्र है। आत्मा जड़ शास्त्र का कर्ता है ऐसा माने तब तो मूढ़ता है। जो जीव शरीरादि की क्रिया को अपनी मानते हैं, उनके समिति आदि नहीं होती। मुनि को अंतर में आत्मा का भान है और छठे गुणस्थान में देवयात्रादि के लिए गमन का विकल्प उठता है, उस समय मार्ग शोधकर चलते हैं, उस समय ऐसा जानने का ज्ञान का काल है, स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ है, शुद्धपरिणति प्रकट हुई है, ऐसी स्थिति में मुनि का मार्ग देखकर चलने का विकल्प वह व्यवहारसमिति है।

छठे गुणस्थान में निश्चयपूर्वक ऐसी व्यवहारसमिति होती है।

अब निश्चयसमिति का स्वरूप कहते हैं:—

"अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयरूपी मार्ग में परमधर्मी ऐसा (अपना) आत्मा उसके प्रति सम्यक् 'इति' (गति) अर्थात् परिणति वह समिति है; अथवा निजपरम-तत्त्व में लीन सहजपरमज्ञानादिक परमधर्मों की संहति (मिलन, संगठन) वह समिति है।"

व्यवहारसमिति में बाहर में रास्ता देखकर चलने की बात थी और यहाँ निश्चय में सम्यक्रत्नत्रय के मार्ग में परमधर्मी ऐसे अपने आत्मा के प्रति सम्यक्परिणति वह समिति है। अथवा आत्मा में सहज परमज्ञानादि परमधर्म प्रकट हुए हैं, उनकी संहति वह निश्चयसमिति है। जो सहज सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रदशा प्रकटी है, उसकी आत्मा में लीनता वह निश्चयसमिति है। चौथे गुणस्थान में भी आंशिक शुद्धभाव प्रकट हुआ है, वह वीतरागभाव है, जितना वीतरागभाव प्रकट हुआ है, वह मुक्ति का कारण है, और जितना राग शेष है, वह बंध

का कारण है। रागरहित दशा प्रकट हुई वह निश्चय है, तब जो राग शेष रहा है, वह व्यवहार है।

''इसप्रकार निश्चय-व्यवहाररूप समिति के भेदों को जानकर उनमें (उन दोनों में से) परमनिश्चयसमिति को भव्यजीव प्राप्त करो।''

निश्चय और व्यवहार दोनों का ज्ञान कराया, किंतु उन दोनों में से आदरणीय तो परमनिश्चय-वीतरागीसमिति ही है, उसको भव्यजीवों प्राप्त करो। स्वरूप की वीतरागी-परिणति में ठहरो और जो राग हो उसके मात्र ज्ञाता बने रहो।

मुनि को छठे गुणस्थान में शुभराग होता है और कोई निचली दशा वाला ऐसा माने कि 'मुझे तो भक्ति आदि का राग नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि वह बंध का कारण है' तो उसे वस्तु का भान नहीं है—विवेक नहीं है। धर्मी सम्यग्दृष्टि को चौथे-पाँचवें गुणस्थान में भक्ति आदि का शुभराग आता है, वहाँ ऐसा हठ नहीं होता है कि इस राग को होने ही नहीं दूँगा। अरे! वह काल तो भक्ति के राग का ही काल है—ऐसा वह जानता है; हाँ, स्वभावदृष्टि में उस राग का कर्ता नहीं होता। यहाँ तो आत्मभानसहित उसमें विशेष स्थिरता की बात है। छठे-सातवें गुणस्थानवाले मुनि की शुद्धपरिणति तो निश्चयसमिति है और छठे गुणस्थान में उठनेवाला विकल्प व्यवहारसमिति है। उन दोनों में से परमवीतरागी-निश्चयसमिति को प्राप्त करो-ऐसा उपदेश है।

अब ६१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं।

इत्थंबुद्ध्वापरमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो।
मुक्त्वा संगं भवभयकरं हेमरामात्मकं च॥
स्थित्वाऽपूर्वे सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे।
भेदाभावे समयति च यः सर्वदा मुक्त एव॥८१॥

इसप्रकार मुक्तिकांता की सखी परमसमिति को जानकर जो जीव भवभय के करनेवाले कंचन-कामिनी के संग को छोड़कर अपूर्व, सहज-विलसते (स्वभाव से प्रकाशते), अभेद चैतन्यचमत्कार में स्थित रहकर (उसमें) सम्यक् 'इति' (गति) करते हैं, अर्थात् सम्यक्रूप से परिणमन करते हैं, वे सर्वदा मुक्त ही हैं।

यहाँ ईर्यासमिति की बात है। ज्ञानानंदस्वरूप अपने आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और स्वरूप-रमणतारूपी स्थिरता में—वीतरागी मार्ग में झूलते मुनि की सहजदशा की बात है।

जूड़ाप्रमाण देखकर चलना वह व्यवहार से कथन है। वास्तव में आत्मा शरीर की क्रिया नहीं कर सकता। जहाँ आत्मा का सच्चा ज्ञान और अंतररमणता विशेष प्रकट हो गई हो—मुनिदशा प्रकट हो गई हो, वहाँ कैसा शुभराग-विकल्प सहज होता है और शरीर की क्रिया शरीर के कारण कैसी होती है, उसका ज्ञान कराया है। सचमुच तो आत्मा के स्वभाव में देखकर चलना अर्थात् आत्मा का सच्चा ज्ञान करके अंत:स्वरूप में चलना अर्थात् परिणमन करना वही सच्ची समिति है। बाहर देखकर चलने का भाव व्यवहार है-शुभराग है।

प्रश्न - अंत:स्वरूप में परिणमन को समिति कहा, तो समिति और गुप्ति में क्या अंतर है?

उत्तर - दोनों में एक ही बात है। आत्मा के शुद्ध वीतरागीस्वरूप में प्रवर्तन करना समिति और शुभाशुभ विकारपरिणति से रहित होना गुप्ति है। एक प्रवृत्ति से अर्थात् अस्ति से और दूसरी निवृत्ति से अर्थात् नास्ति से है।

वह समिति कैसी है? वह शुद्धभावरूप समिति मुक्तिसुंदरी की सखी है। आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप पर से भिन्न तथा विकार से भिन्न है, उसका भान करके स्वरूप में प्रवर्तन करना, अंतर वीतरागी रमणता, अंतर एकाग्रता करना ही निश्चयसमिति है। इस निश्चयपरमसमिति को जानकर जो जीव भवभय के करनेवाले कंचन व कामिनी के संग को त्यागकर अपूर्व सहज विलसते अभेद चैतन्यचमत्कार में स्थित रहकर उसमें सम्यक् 'इति' (गति) करते हैं अर्थात् सम्यक्रूप से परिणमते हैं, वे सदा मुक्त ही हैं।

कंचन और कामिनी का संग भवभयकारक कहा, वह निमित्त का कथन है। स्वयं उसके प्रेम में आसक्त होने से ही संसार में भटकना होता है। अखंड ज्ञानानंदस्वरूप सहज विलसते चैतन्यचमत्कार में कि जो शुभाशुभ विकार से रहित है, उसमें सम्यक् 'इति'-गमन, परिणमन, रमणता करना, वह समिति है।

जो जीव अभेदचैतन्य में स्थिर होकर परिणमन करता है, उसको मुक्तदशा का कारण कहकर सर्वदा मुक्त ही कहते हैं।

जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनां
त्रसहंतिपरिदूरा स्थावराणां हतेर्वा।
भवदवपरितापक्लेशजीमूतमाला,
सकलसुकृतसीत्यानीकसन्तोषदायी॥८२॥

शील अर्थात् चारित्र। मुनियों को अरागी, अकषायी चारित्र प्रकट हुआ है, उसकी मूल यह समिति है। मुनियों को, जिसमें त्रस स्थावर जीवों के हनन करने का विकल्प ही नहीं उठता, ऐसे ज्ञाता-दृष्टास्वभाव में रमणता प्रकट हुई है। उनको इस स्वभाव में रमणतारूप निश्चयसमिति होने के कारण त्रसादि के घात का विकल्प नहीं उठता, अतः वह समिति त्रसादि के घात से अर्थात् ऐसे विकल्प से समस्त प्रकार से दूर है—ऐसा कहा है। पुनः, ज्ञानानंद आत्मा में वीतराग परिणाम होने पर, भवदावानल-रागद्वेषादि क्लेश उत्पन्न नहीं होते, अतः इस समिति को भवदावानल के परितापरूपी क्लेश को शांत करनेवाला कहा है। पुनः, यह समिति वीतरागीस्वभाव के आचरणस्वरूप जो सुकृतरूपीधान्य उसको पोषण प्रदान करनेवाली मेघमाला है।

मन, वाणी, देह से रहित तथा शुभाशुभ राग से रहित अंतरस्वरूप में-वीतरागी स्वभाव में रमणता करना वह समिति है और वह समिति जयवंत है।

ऐसी समिति आंशिकरूप से श्रावकदशा में भी कही गई है। मुनि को समिति आदि जो कहे गये हैं, वे सब श्रावक को भी आंशिक होते हैं।—ऐसा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है। श्रावक को भी विकल्प तोड़कर स्वरूपरमणता की आंशिक प्रकटता होती है; उसके जितना राग है—पुण्य का विकल्प है, वह बंध का कारण है।

वह समिति मेरे आत्मा में जयवंत वर्तती है। मुनि को शास्त्र लिखते समय राग है, विकल्प है, वह बंध का कारण है; तथापि उनके अंतरस्वभाव में रमणता—समिति वर्तती है, वही जयवंत है। मुनिराज लिखते समय चलते नहीं-बाह्य ईर्यासमिति में नहीं हैं, तो भी अपने स्वभावमार्ग में चलनेरूप ईर्यासमिति उनको जयवंत वर्तती है।

नियतमिह जनानां जन्म जन्माणवेऽस्मिन्।
समितिविरहितानां कामरोगातुराणाम्॥
मुनिप कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये।
ह्यपवरकममुष्याश्चारु योषित्सुमुक्तेः॥८३॥

जो जीव अंतर चैतन्यस्वभाव के भानसहित स्वरूपरमणता में नहीं प्रवर्तता वह इच्छारूपी रोग से पीड़ित है, वह वीतराग मार्ग का आदर नहीं करता, उसको जन्मार्णव अर्थात् जन्म-मरण के वन में भ्रमण करना पड़ता है। अतः हे मुनि! तू अपने चैतन्यरूपी गृह में-अंदर में

सुमुक्तिरूपी सुंदर रमणी के लिए स्थान रख। अंदर एकाग्रता करने के लिये निवृत्ति रख और प्रवृत्ति छोड़। 'मैं वीतरागी ज्ञाता-दृष्टा हूँ'—ऐसे स्वभाव में रमणता करना उसका नाम सच्ची समिति है। देखकर चलना—ऐसे विकल्प की तो यहाँ बात ही नहीं है। यह तो मुख्यरूप से मुनि की बात है। जिसको आत्मा का अनुभव हुआ है ऐसे पंचम गुणस्थानवाले श्रावक को भी यह समिति आंशिक होती है। छठे गुणस्थान में बढ़कर उग्ररूप से अंतररमणता होती है। अधिक उग्रता के लिये यहाँ भावना की बात कही है।

निश्चयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः।
बत न च लभतेऽपायात् संसारमहार्णवे भ्रमति॥८४॥

अंदर एकाग्रता—शांति उत्पन्न करे, स्वरूपरमणता को प्रकट करे तो वह जीव निश्चय से मुक्ति पाता है। किंतु अरेरे! वह स्वभाव के भान बिना मोक्ष पाता नहीं; उसको चाहे जितनी जड़ की क्रिया अथवा शुभराग होता हो तो भी वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, संसार में ही भ्रमण करता है, चौरासी के अवतार में भटकता है।

कृपया ध्यान दें —

जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) पत्रिका का १६ सितम्बर व १ अक्टूबर का सम्मिलित अंक 'पर्यूषण पर्व विशेषांक' के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है—जिसका मूल्य ३)०० रुपये होगा। यह लगभग ६४ पृष्ठीय आध्यात्मिक सामग्री से परिपूर्ण विशेषांक होगा।

इस महीने में जिनका शुल्क समाप्त हो गया है, उनको इस अंक के साथ मनिआर्डर फार्म भेज रहे हैं। कृपया शीघ्र सदस्यता शुल्क भेजने का कष्ट करें, जिससे आपको विशेषांक प्राप्त हो सके। जिनका शुल्क १ अक्टूबर ८० तक प्राप्त हो जायेगा, उन्हें ही यह अंक भेजा जा सकेगा।

पर्यूषण में हमारे यहाँ से आपके यहाँ विद्वान पहुँच रहे हों तो शुल्क उन्हें भी जमा करा सकते हैं।

— प्रबंध संपादक

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

[गतांक से आगे]

अब 'परिणामि' शब्द की व्याख्या करते हैं:—

स्वभाव और विभाव पर्यायों के परिणमनवाले जीव और पुद्गल द्रव्य हैं। शेष चार धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों के विभावव्यंजन पर्याय नहीं होती है, इसलिए वे अपरिणामी हैं।

यहाँ जीव व पुद्गल द्रव्यों को ही परिणामी कहा है, वह विभावव्यंजन पर्याय की मुख्यता से जानना, वास्तव में तो परिणमनस्वभाववाले होने से छहों ही द्रव्य परिणामी हैं। जीव में संकोच-विस्तार होता है, पुद्गल का आकार विभावरूप होता है, अन्य चार द्रव्यों का नहीं—यही अपेक्षा यहाँ समझना चाहिये।

अनंत जीव और अनंतानंत पुद्गलद्रव्य स्वभावरूप अथवा विभावरूप, अपने कारणों से अर्थात् स्वसामर्थ्य से परिणमित होते हैं, क्योंकि सभी द्रव्यों का परिणमन स्वभाव है।

यहाँ कोई कहे कि जीव स्वभावरूप परिणमन अपने कारणों से ही करता है, यह ठीक है; परंतु विभावरूप परिणमन तो कर्म के कारण होगा?

नहीं, कर्म के कारण परिणमन नहीं होता। यह सिद्ध है कि परिणमन चाहे स्वभावरूप हो अथवा विभावरूप, स्वयं की सामर्थ्य से ही होता है। विचाररहित प्राणी को कर्म का जोर-सा मालूम पड़ता है। कर्म के कारण जीव विकाररूप परिणमित होता है-यह बात ही खोटी है। हाँ, इतना है कि उस विभावपरिणमन में कर्म निमित्त होता है, परंतु उसकी अपेक्षा यहाँ नहीं है, क्योंकि परिणमन स्वभाव किसी की अपेक्षा ही नहीं रखता है।

तथा कर्मों का अभाव करने के लिये आत्मा शुभकर्मरूप परिणमन करता हो, ऐसा भी नहीं है। पुद्गलकर्म स्वयं ही विभावरूप परिणमन करते हैं। परमाणु अकेला अथवा स्कंधरूप होकर अथवा दोनों ही अवस्थाओं में अपनी-अपनी योग्यता के कारण परिणमन करता है,

अन्य किसी के कारण से नहीं। एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कंध तक परिणमन होता है, पर होता है, सब अपने-अपने ही कारण से।

जीव और पुद्गल द्रव्यों में ही क्षेत्र से क्षेत्रांतर होने की योग्यता है। वह क्षेत्रांतर परद्रव्यों के कारण नहीं होता है। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य ये तीन सत् के अंश हैं, इनमें से एक अंश भी पर के कारण माने तो सत् के नाश होने का प्रसंग आता है।

सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोहनीय के कारण संसार में रहना पड़ता हो, ऐसी बात नहीं है। कर्म के कारण जीव परतंत्र होकर संसार में नहीं घूमता, परंतु अपने स्वभाव को भूलकर घूमता है। तथा यदि वह अपने स्वभाव को पहिचान ले, उसी में लीन हो जाये, तो फिर कर्म उसे संसार में रहने के लिये नहीं रोक सकते। गोम्मटसार में इसप्रकार का कथन आता है तो वह निमित्त की अपेक्षा है-ऐसा समझना चाहिये। परनिमित्त की रुचि अर्थात् निमित्तदृष्टि हो जाये तो आत्मा की रुचि अर्थात् आत्मदृष्टि नहीं होती है।

इसप्रकार विभावव्यंजन पर्याय की मुख्यता से जीव और पुद्गल—दो द्रव्य परिणामी कहे—इससे शेष चार द्रव्य अपरिणामी होते हैं, यह निर्णय हुआ। चारों की ही विभावव्यंजन पर्याय नहीं होती है।

अब 'जीव' शब्द की व्याख्या करते हैं:—

शुद्धनिश्चयनय से निर्मलज्ञान-दर्शनस्वभाव को प्राण कहते हैं और उन चैतन्यप्राणों से जो जीता है, वह जीव है। शुद्ध द्रव्यदृष्टि से देखें तो आत्मा शुद्ध ज्ञाता-दृष्टारूप चैतन्यप्राणों को धारण करनेवाला है।

सभी आत्मायें अपने शुद्ध चैतन्यप्राणों से जीती हैं। सम्यग्दर्शन का विषय चैतन्यवस्तु है।

व्यवहारनय से कहा जाये तो कर्मों के उदय के कारण उत्पन्न द्रव्य-भावरूप चार प्रकार के प्राण भी हैं; जिनकी संख्या दश है—५ इंद्रियप्राण, ३ बल, १ आयु और १ श्वाच्छसोवास। इनके द्वारा भी जीव जीता है।

जड़प्राण और अशुद्ध भावप्राण दोनों ही जाननेयोग्य हैं, आश्रय करने योग्य या आदर करनेयोग्य नहीं हैं। आश्रयणीय अथवा आदरणीय तो शुद्ध एक चैतन्यप्राण ही है। इसप्रकार मानने पर ज्ञान के प्रमाणपना आता है।

ज्ञान स्वतंत्रपने सभी द्रव्यों को जानता है, इसप्रकार ज्ञान-सामर्थ्य की प्रतीति (रुचि) धर्म है। खुद को जानते हुए भी पर को जानना ही ज्ञान का स्वभाव है।

सभी द्रव्य सत्स्वरूप हैं। अत: अस्तिपना तो सभी द्रव्यों के सिद्ध है।

स्वलक्ष्य से साधकपना तथा परलक्ष्य से बाधकपना होता है-यह नियम है। यदि परपदार्थों के कारण परलक्ष्यी वृत्ति और उससे ही बाधकपना होता है—ऐसा माने तो मिथ्यात्व है; क्योंकि परलक्ष्य परपदार्थों के कारण से नहीं, अपितु परलक्ष्यी स्वयं की रुचि से होता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप आत्मद्रव्य में ध्रुव अंश का अवलंबन होने पर साधकदशा होती है।

प्रश्न - उत्पाद-व्यय तो प्रत्येक द्रव्य में होता है, और वह अवलंबन करनेयोग्य नहीं ऐसा कहा, तो फिर वह जीव में उत्पन्न ही क्यों होता है ?

उत्तर - एक के बाद पर्याय है, यह भी ठीक है। पर उसके अवलंबन से धर्म नहीं होता, यह भी ठीक है। क्योंकि धर्म तो ध्रुव के अवलंबन से ही होता है।

उत्पाद-व्यय की धारा कभी नहीं टूटती है, प्रतिसमय उत्पाद-व्यय होता रहता है। ध्रुव का अवलंबन लेने से क्रमबद्धता आती है और उसकी प्रतीति होने से स्वलक्ष्यी उत्पाद होता है। पर्याय के लक्ष्य से 'क्रमबद्ध' का निर्णय नहीं होता। ध्रुवपरमात्मा निजद्रव्यस्वभाव का अवलंबन होने पर ही 'क्रमबद्ध' के निर्णय में श्रद्धा होती है और पर्यायबुद्धि मिट जाती है।

उत्पाद-व्यय की धारा कभी नहीं टूटती है तथा जो पर्याय जब होनी है, तभी होती है—ऐसी श्रद्धा होने पर, परपदार्थों की रुचि मिटकर स्वरुचि हो जाती है और सम्यग्दर्शन के उत्पादरूप धारा चलती है। पर्यायदृष्टि रहने पर संसार की धारा चलती है।

सभी द्रव्यों की परिणति क्रमबद्ध है—ऐसा निर्णय ध्रुव के अवलंबन से होता है, पर्याय के अवलंबन से नहीं; यह मानना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

जैनागम का चाहे कोई अनुयोग हो, चाहे कोई शास्त्र हो, कोई भी गाथा हो या कोई भी शब्द हो—सभी का तात्पर्य वीतरागता ही है।

द्रव्य है और पर से भिन्न है, ऐसा कहने पर भी भिन्नता पर के कारण अथवा पर के आश्रित नहीं है—यह निर्णय हो जाये तो पर की रुचि नहीं रहती, आत्मबुद्धि ध्रुवतत्त्व के श्रद्धानपूर्वक होती ही है। वीतरागता हुये बिना नहीं रहती।

इसलिये छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ आदि सभी में द्रव्यदृष्टि की ही बात है; द्रव्यदृष्टि करो यही प्रेरणा है।

सभी द्रव्यों की सभी पर्यायें 'क्रमबद्ध' ही हैं, यह निर्णय करने पर द्रव्यदृष्टि होती है, द्रव्यस्वभाव का अवलंबन होता है। सम्यग्दर्शन कहो या 'क्रमबद्ध' का निर्णय कहो, एक ही बात है। 'क्रमबद्ध' के निर्णय बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अज्ञानी जीवों को ऐसा भ्रम है कि आत्मा के कारण शरीर चलता है, उठता-बैठता है तथा हाथ की अंगुलियों के कारण लकड़ी ऊँची होती है। इस भ्रम को दूर करने के लिये इस गाथा में स्पष्टीकरण किया।

प्रश्न - आत्मा में अथवा पुद्गल में स्वभावपर्याय होती है, तब तो अन्य की जरूरत नहीं पड़ती; परंतु विभावपर्याय तो अन्य वस्तु के होने पर ही होती है, नहीं होने पर नहीं होती- इसका क्या कारण है ?

उत्तर - जीव और पुद्गल—दोनों ही द्रव्यों में विभावव्यंजन पर्यायरूप परिणमन करने की जो योग्यता है, वह दूसरे द्रव्यों के कारण नहीं है। केवली भगवान के भी पहले जो विभावव्यंजनपर्याय थी वह भी अपने कारण से थी, कर्म के कारण से नहीं। संसारी जीवों के अभी जो अशुद्धता है, वह विभावव्यंजनपर्याय है।

यहाँ जीव अपने चैतन्यप्राणों से जीता है, यह निश्चय कथन है और द्रव्यप्राणों के निमित्त से अथवा अशुद्ध भावप्राणों की योग्यता से जीता है, यह व्यवहार कथन है। शास्त्र का कोई भी बोल हो वह द्रव्यदृष्टि ही कराता है, तद्नुसार द्रव्य का आश्रय करें तो पर्याय का ज्ञान यथार्थ होता है। वर्तमान पर्याय में जितनी योग्यता है, मात्र उतना ही जीव नहीं है; क्योंकि पर्याय की योग्यता तो एकसमय की है और जीव त्रिकाली है—इसलिये ध्रुवरूप शुद्ध चैतन्यप्राणों से जीता है, वह जीव है। [क्रमशः]

वचनामृत के अमृतकण

सोनगढ़ में आयोजित प्रौढ़ शिक्षणशिविर के अंतिम दिन दिनांक २७-८-८० को पूज्य बहिनश्री चंपाबेन का ६७वाँ जन्म-दिवस अत्यंत उल्लासपूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर बारह परिवारों ने लगभग एक लाख रुपये के हीरे भेंट करते हुए उनका अभिनंदन किया तथा १ लाख पचास हजार की राशि और भी आई। यह समस्त राशि ज्ञानप्रचार में खर्च की जाएगी।

तीन दिन पूर्व प्रतिदिन जिनमंदिर में पंच परमेष्ठी विधान किया गया। जन्मदिवस के दिन सभी मुमुक्षुभाई उनके घर गये तथा श्रीफल भेंट कर उन्हें बधाई दी।

इस अवसर पर सेठ श्री कांतिभाई मोटाणी परिवार की ओर से सत्साहित्य की कीमत में २५ प्रतिशत कमी की गयी, जिससे बीस हजार रुपयों का साहित्य विक्रय हुआ।

इस अवसर पर पूज्य स्वामी के प्रवचनों के संकलन 'प्रवचनरत्नाकर' (गुजराती) के द्वितीय भाग का विमोचन भी हुआ।

६७वें जन्मदिवस के उपलक्ष्य में उनके वचनामृत के ६७ अमृतकण यहाँ दिये जा रहे हैं। वचनामृत पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों के महत्त्वपूर्ण अंश भी आगामी अंकों में यथासंभव देने का प्रयत्न करेंगे।

१. **आत्मा सर्वोत्कृष्ट वस्तु है, आश्चर्यकारी है, जगत में आत्मा से बढ़कर और कोई महान वस्तु नहीं है।**

२. 'द्रव्य तो मुक्त ही है, मुक्ति की पर्याय को आना हो तो आये', इसप्रकार द्रव्य का आलंबन और पर्याय के प्रति उपेक्षा वृत्ति होने पर स्वाभाविक शुद्धपर्याय प्रगट हो ही जाती है।

३. **चौदह ब्रह्मांड पलट जाए तो भी अनुभव में शंका नहीं होती—सम्यग्दृष्टि को ऐसा निःशंकित गुण होता है।**

४. और सभी चिंताएँ छोड़कर एक आत्मा की ही चिंता कर। किसी भी प्रकार

चैतन्यस्वरूपी आत्मा का आश्रय कर। तभी तू संसाररूपी मगर के मुख में से छूट सकेगा।

५. **यह संसार तो पक्षियों के मेले जैसा है, जो इकट्ठे हुए हैं, वे सब छूट जायेंगे। मात्र आत्मा ही शाश्वत है, अन्य सब अध्रुव है, बिखर जाएगा।**

६. यदि इसी समय चैतन्य में संपूर्णरूप से एकाग्रता हो जाए तो अन्य कुछ भी नहीं चाहिए—सम्यग्दृष्टि की यही भावना होती है।

७. **'मैं शुद्ध हूँ'—ऐसा स्वीकार करने पर पर्याय की रचना शुद्ध ही होती है—जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।**

८. परमार्थ से तो आत्मा ने त्रिकाल ज्ञायकपने का ही वेष धारण किया है। ज्ञायकतत्त्व को परमार्थ से कोई पर्यायवेष नहीं है।

९. **जगत में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है कि जो आत्मा से भी बढ़ कर हो।**

१०. आत्मारूपी परम पवित्र तीर्थ में स्नान कर; आत्मा पवित्रता से भरा हुआ है, उसमें उपयोग लगा।

११. **परम पुरुष तेरे समीप होते हुए भी तूने उन्हें नहीं देखा, तेरी दृष्टि बाहर ही रही।**

१२. चाहे जितना समय बीत गया, चाहे जितने विभाव हुए, तो भी परमपारिणामिकभाव वैसा का वैसा अखंड ही रहा।

१३. **चाहे जैसे संयोग में भी आत्मा अपनी शांति प्रगट कर सकता है।**

१४. निरालंबी परिणमन तो वस्तु का स्वभाव है, तू किसी के आलंबन बिना चैतन्य में चला जा।

१५. **निष्कलंक परमात्मा का ध्यान करने पर भव्य जीवों को मोक्षपद की प्राप्ति होती है।**

१६. गुरु की वाणी से जिसका चित्त भिद गया है और जिसे आत्मा की लगन लगी है, उसका चित्त और कहीं नहीं लगता।

१७. **तुझे यह कोई महिमावंत वस्तु बता रहे हैं, तू अंतर की गहराई में उतर कर देख, आत्मा को पहिचान।**

१८. तू आत्मा में जा तो तेरा भ्रमण मिट जाएगा। जिसे आत्मा में जाना हो उसे आत्मा का आधार लेना चाहिए।

१९. **शुद्धात्मा का स्वरूप बताने में गुरु के अनुभवपूर्वक निकले हुए वचन रामबाण जैसे हैं।**

२०. कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, विभाव भी तेरा नहीं है, तो बाह्य संयोग तेरा कैसे होगा ?

२१. **आत्मा की ज्ञाताधारा को कोई रोक नहीं सकता। चाहे रोग आये या उपसर्ग आये, आत्मा तो निरोग और निरूपसर्ग है।**

२२. भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करेगा तो डूब जाएगा, अनेकांत का ज्ञान कर तो तेरी साधना यथार्थ होगी।

२३. **शुद्धोपयोग से बाहर नहीं आना, शुद्धोपयोग ही संसार से पार होने का मार्ग है, शुद्धोपयोग में न रह सके तो प्रतीति तो यथार्थ रखना ही।**

२४. अहो ! उन परमपुरुषार्थी महाज्ञानियों की दशा कैसी होगी कि अंदर गये तो बाहर आते ही नहीं। वह दिन धन्य होगा जब आत्मा में से बाहर आना ही नहीं पड़ेगा।

२५. **एक-एक दोष को ढूँढ़-ढूँढ़ कर टालना नहीं पड़ता, अंदर में नजर ठहराये तो गुण-रत्नाकर प्रगट हो तथा सभी दोष दूर हो जायें।**

२६. भेदज्ञान के लिये तीखी रुचि ही काम करती है। 'ज्ञायक' 'ज्ञायक' 'ज्ञायक' की ही रुचि हो तो पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहेगा।

२७. **हमेशा आत्मा को ही ऊर्ध्व रखना। जिसे वास्तविक जिज्ञासा होती है, उसे पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता।**

२८. स्वरूप की खोज में तन्मय होने पर अनेक प्रकार के विकल्पजाल में घूमनेवाला उपयोग आत्मा के सम्मुख हो जाता है।

२९. **सत्य समझने में समय भले लगे, परंतु उसका फल आनंद और मुक्ति है।**

३०. एकदम पुरुषार्थ करके चैतन्यस्वभाव की गहराई में उतर जा, कहीं रुकना नहीं।

३१. **जिसे यह (आत्मा) समझने की रुचि हो उसे दूसरा कुछ भी नहीं सुहाता, वह 'कल करूँगा-कल करूँगा'—ऐसा वायदा नहीं करता।**

३२. जिसने भेदज्ञान की विशेषता की है, उसे चाहे जैसे परीषह में आत्मा ही विशेष लगता है।

३३. **करना तो एक ही कार्य है। पर से एकत्व तोड़ना, पर के साथ तन्मयता तोड़ना—यही करना है।**

३४. महान पुरुषों की आज्ञा मानना। उनसे डरना तो अपने दोषों से डरने के समान है। इससे तेरे क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि अवगुण दब जायेंगे।

३५. **गुरु तेरे गुण खिलने की कला दिखायेंगे, गुरु की आज्ञा में रहना तो परम सुख है।**

३६. चैतन्यद्रव्य पूर्ण निरोग है, पर्याय में रोग है, शुद्धचैतन्य की भावना पर्यायरोग दूर करने की उत्तम औषधि है।

३७. **हे शुद्धात्मा! तू मुक्तस्वरूप है। तुझे पहचानने से पंच परावर्तन से छूट जाते हैं, इसलिए तू संपूर्ण मुक्ति का दाता है।**

३८. सम्यग्दर्शन होते ही जीव चैतन्य-महल का मालिक हो जाता है।

३९. **विभावों में तथा पंच परावर्तन में कहीं विश्राम नहीं है, चैतन्यगृह ही वास्तविक विश्रांतिगृह है।**

४०. जिसे चैतन्यघर मिल गया है, दृष्टि प्राप्त हो गई है, उसका उपयोग बाहर जाए तब भी उसे शांति बनी रहती है।

४१. **साधक जीव चैतन्य की स्वानुभूतिरूप खिले हुए नंदन वन में विहार करता है, उससे बाहर आने पर कहीं भी रस नहीं लगता।**

४२. 'मैं यह ज्ञायक हूँ, अनंत विभूति से भरा हुआ तत्त्व हूँ'—इसप्रकार अंतर से भेदज्ञान करे तो उसके बल से निर्विकल्पता होती है, विकल्प छूटते हैं।

४३. **अपनी दृष्टि की डोर चैतन्य से बाँध दे। जिसप्रकार आकाश में पतंग उड़ा, परंतु डोर हाथ में होनी चाहिए; उसीप्रकार दृष्टि की डोर चैतन्य से बाँध दे, फिर भले उपयोग बाहर जाता रहे।**

४४. जिससमय विभाव-भाव होते हैं, उसी समय ज्ञाताधारा द्वारा स्वभाव को उनसे भिन्न जान ले।

४५. **स्वभाव में ही रस लगे, अन्य सब नीरस लगे, तभी अंतर की सूक्ष्म संधि ज्ञात होती है।**

४६. अबद्धस्पृष्ट आदिरूप शुद्ध आत्मा की अनुभूति समस्त जिनशासन की अनुभूति है- इसमें चौदह ब्रह्मांड के भाव समा जाते हैं।

४७. **ज्ञानानंद सागर की तरंगों को न देखकर उसके तल पर दृष्टि रख, तरंगें तो उछलेंगी ही, तू इनका अवलंबन क्यों करता है ?**

४८. दृढ़ प्रतीति करके सूक्ष्म उपयोगवाला होकर द्रव्य की गहराई में उतर जा, द्रव्य के पाताल में जा, वहाँ से तुझे शांति और आनंद मिलेगा, खूब धैर्यवान होकर द्रव्य का तल स्पर्श कर।

४९. **तू एक है और कर्म अनंत हैं, परंतु तू एक ही अनंत शक्तिवाला सभी कर्मों को नष्ट करने में पर्याप्त है।**

५०. जैसे राजा अपने महल के भीतर रहता है, वैसे चैतन्यराजा चैतन्यमहल की गहराई में बसता है, वहाँ जा।

५१. **श्रवणयोग हो तो तत्कालबोधक गुरुवाणी में और स्वाध्याययोग हो तो नित्यबोधक आगम में प्रवर्तन करना।**

५२. जैसे सिंह जंगल में निर्भय होकर विचरता है; वैसे ही तू लोक से निरपेक्ष होकर अपने पराक्रम से—पुरुषार्थ से आत्मा में विचरना।

५३. **लोक का भय और ढ़ीलापन छोड़कर स्वयं दृढ़ पुरुषार्थ करना। लोग क्या कहेंगे—यह देखने से चैतन्यलोक में नहीं जा सकते।**

५४. मुमुक्षु जीव शुभ कार्यों में भी जुड़ता है, परंतु उसकी शोधकवृत्ति चली नहीं जाती। अपने सत्स्वरूप की शोध चालू रहे—इसप्रकार वह शुभ में जुड़ता है।

५५. **वस्तु की महिमा बराबर ख्याल में आने पर जीव संसार से इतना अधिक थक जाता है कि 'मुझे और कुछ नहीं चाहिए, एक निज आत्मद्रव्य ही चाहिए' यही भावना रहती है।**

५६. द्रव्यदृष्टिवंत को अंतर में इतना अधिक रसकशवाला तत्त्व दिखता है कि उसकी दृष्टि पर्याय पर जमती ही नहीं।

५७. **जिसप्रकार किसी बहुत कमजोर व्यक्ति के ऊपर किसी काम का बोझा रखने पर उसे बहुत कष्ट होता है; उसीप्रकार ज्ञानी को ज्ञानधारा वर्तती होने से बाहर के कार्यों में जुड़ना बोझारूप लगता है।**

५८. चाहे जितनी प्रतिकूलता में भी अपना ज्ञान-ध्यान का समय खींचकर निकाल लेना। यह अमूल्य जीवन चला जा रहा है, इसे व्यर्थ नहीं जाने देना।

५९. **ज्ञायक परिणति का दृढ़ अभ्यास कर। शुभभाव के कर्तृत्व में भी सारे लोकालोक का कर्तृत्व समाया हुआ है।**

६०. अंतरात्मा दिन-रात अंतरंग में आत्मा-आत्मा करते हुए, अंतरात्म-भाव से परिणमते हुए परमात्मा हो जाते हैं।

६१. **अहो! अमोघ रामबाण जैसे गुरुवचन! यदि पात्र जीव हो तो विभाव छूट जाए और स्वभाव प्रगट हो जाए। यह अवसर चूकनेयोग्य नहीं है।**

६२. लौकिक संग तेरा पुरुषार्थ मंद होने में कारण होगा। विशेष गुणी का संग तेरे चैतन्यतत्त्व को देखने की परिणति में विशेष वृद्धि का कारण होगा।

६३. **मलिनता टिकती नहीं और मलिनता सुहाती नहीं; इसलिए वह वस्तु का स्वभाव नहीं हो सकती।**

६४. साधक जीव को भूमिकानुसार देव-गुरु की महिमा के, श्रुतचिंतवन के, अणुव्रत-महाव्रत आदि के विकल्प होते हैं, परंतु वे ज्ञायक परिणति में बोझारूप हैं, क्योंकि वे स्वभाव में विरुद्ध हैं।

६५. **अहो! यह भगवान आत्मा तो सर्वांग सहजानंद की मूर्ति; जहाँ से देखो वहाँ आनंद ही आनंद भरा है।**

६६. आत्मसाक्षात्कार ही अपूर्व दर्शन है। अनंत काल में भी जो नहीं हुआ ऐसा चैतन्यतत्त्व का दिव्यदर्शन ही अलौकिक दर्शन है। सिद्धदशा तक की सभी लब्धियाँ शुद्धात्मानुभूति में जाकर मिलती हैं।

६७. **विश्व का अद्‌भुत तत्त्व तू ही है। अपने अंदर में जाते ही तेरे अनंत गुणों का बगीचा खिल उठेगा।**

नोट - इस अंक में 'वचनामृत के अमृतकण' देने से हम अपने स्थाई स्तंभ 'ज्ञानगोष्ठी' और 'पाठकों के पत्र' नहीं दे पा रहे हैं। अत: पाठक क्षमा करें। तथा आगमी अंकों में वचनामृत पर हुए गुरुदेवश्री के प्रवचनों के दो पृष्ठ देंगे। इस कारण 'पाठकों के पत्र' एवं 'बीस साल पहले' वाले स्तंभ अभी स्थगित रहेंगे।

समाचार दर्शन

आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर सानंद संपन्न

सोनगढ़ - प्रतिवर्ष की भाँति यहाँ ८ अगस्त से २७ अगस्त, १९८० तक बीस दिवसीय शिक्षण-शिविर आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी की छत्रछाया में सानंद संपन्न हुआ। इस शिविर में १४ प्रांतों के प्रमुख नगर बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, जयपुर, बंगलौर, मद्रास, नागपुर, जबलपुर, सागर, आगरा, कानपुर, भोपाल, ग्वालियर, इंदौर, उज्जैन, बड़ौत, रायपुर, अहमदाबाद, बड़ौदा, कारंजा, कुंभोज-बाहुबली, हैदराबाद, कोल्हापुर, उदयपुर, अजमेर, कोटा, सहारनपुर, राजकोट, भावनगर, गुना, बीना, विदिशा, बासौदा, अशोकनगर, ललितपुर, शिवपुरी, मंदसौर, रतलाम, खंडवा, सनावद, अलीगंज, इटावा, करहल, कुरावली, मैनपुरी, फतेपुर, जलगाँव, मलकापुर, छिंदवाड़ा, वाशीम, शिरपुर आदि २२३ स्थानों से १०२६ पुरुष शिक्षार्थी तथा ५८० महिलाऐं सम्मिलित हुईं। इसप्रकार शिक्षार्थियों की कुल संख्या १६०६ रही।

शिविर में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भावभीने मंगल प्रवचन प्रातः ८ से ९ 'वचनामृत' पर तथा मध्याह्न में 'नियमसार शुद्धभाव अधिकार' पर हुए। प्रवचनों के अतिरिक्त सायं ७-१५ से ८ तक तत्त्वचर्चा होती थी, जिसमें प्रवचनों में आये गूढ़-गंभीर विषयों पर उत्पन्न प्रश्नों के समाधान पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा किये जाते थे। नयचक्र की कक्षा में गुरुदेवश्री भी विराजते थे।

उत्तम वर्ग की कक्षा—डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल 'नयचक्र' विषय पर एवं पंडित ज्ञानचंदजी 'मोक्षमार्गप्रकाशक' ग्रंथ पर लेते थे। प्रथम वर्ग की कक्षा—पंडित रतनचंदजी भारिल्ल 'छहढाला' पर तथा पंडित अभयकुमारजी 'लघु जैनसिद्धांत प्रवेशिका' पर लेते थे।

उत्तम वर्ग में शिक्षार्थी पुरुषों की संख्या ५२३ तथा प्रथम वर्ग में पुरुषों की संख्या ५०३ रहीं। इनके अतिरिक्त महिलाओं को यद्यपि कक्षा में प्रवेश वर्जित था तथापि उनकी माँग पर पृथक्-पृथक् स्थानों पर लाउडस्पीकरों द्वारा कक्षा सुनने का लाभ उन्हें प्राप्त होता रहा।

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के पश्चात् प्रतिदिन ८.१५ से ९.१५ तक डॉ० भारिल्लजी का 'समयसार कर्ताकर्म अधिकार' पर प्रवचन होता था। मध्याह्न १.३० से २.३० तक विभिन्न विद्वानों के प्रवचन नियमित होते थे। इसके अतिरिक्त वयोवृद्ध विद्वान पंडित रामजीभाई दोशी

भी प्रातः ५ से ६ तक अपने निवासस्थान पर गोष्ठी चलाते थे। अन्य व्यक्तिगत व सामूहिक गोष्ठियाँ भी यत्र-तत्र चलती थीं।

इसप्रकार सोनगढ़ का सारा वातावरण अध्यात्ममय बना रहता था। प्रातः पूजन करनेवालों की अपार भीड़ रहती थी। संपूर्ण कार्यक्रम उत्साहपूर्वक सानंद संपन्न हुए।

पूज्य बहिनश्री का ६७वाँ जन्मदिवस २७ अगस्त को उल्लासपूर्वक मनाया गया जिसके समाचार पृथक् से 'वचनामृत के अमृतकण' शीर्षक से दिये गये हैं।

युवा फैडरेशन की गतिविधियाँ

ग्वालियर (म.प्र.) - पंडित लालजीरामजी विदिशा की सद्प्रेरणा से दिनांक २४-७-८० को यहाँ अ० भा० जैन युवा फैडरेशन की शाखा गठित की गई। दिनांक २७-८-८० को युवा फैडरेशन की ओर से म०प्र० के भू०पू० स्वास्थ्य मंत्री श्री शीतलासहायजी के मुख्य आतिथ्य तथा श्री मानिकचंदजी गंगवाल एडवोकेट की अध्यक्षता में एक समारोह का आयोजन किया गया। समारोह में सैकड़ों नवयुवकों ने भाग लिया। इस अवसर पर विभिन्न वक्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये। **— मंत्री**

विदिशा (म.प्र.) - दिनांक ३-८-८० को युवा फैडरेशन के तत्त्वावधान में 'युवा दिवस' का आयोजन किया गया जिसमें पंडित राजमलजी भोपाल, ब्रह्मचारी हेमचंदजी 'हेम' भोपाल, पंडित ज्ञानचंदजी तथा पंडित सेठ जवाहरलालजी ने युवकों को संबोधित किया। समारोह की अध्यक्षता डॉ० आर. के. जैन ने की। इस अवसर पर युवा फैडरेशन की स्थानीय शाखा द्वारा प्रकाशित 'जिनेन्द्र पूजा संग्रह' का विमोचन पंडित राजमलजी द्वारा किया गया।

—सुभाष मोदी

मौ (म.प्र.) - ब्रह्मचारी गेंदालालजी की अध्यक्षता में युवा फैडरेशन की स्थानीय शाखा द्वारा प्रतिदिन सामूहिक भक्ति तथा साप्ताहिक आध्यात्मिक तत्त्वगोष्ठी व अंताक्षरी प्रतियोगिता आरंभ की गई। **— वीरचंद जैन**

शिरड शहापुर (महा.) - महाराष्ट्र वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति की ओर से निरीक्षक श्री हरकचंदजी गंगवाल २८-७-८० को यहाँ पधारे। तीन दिन तक तीनों समय आपके मार्मिक प्रवचनों से समाज ने लाभ उठाया। **— प्रेमचंद महाजन**

बिजौलिया (राज.) - यहाँ अ० भा० जैन युवा फैडरेशन की नवीन शाखा गठित की

गई। इस अवसर पर श्री टोडरमल दि० जैन महाविद्यालय के छात्र श्री अशोककुमारजी लुहाड़िया ने बालबोध की कक्षाऐं चलाईं तथा सभी छात्रों की परीक्षाऐं लीं। युवा वर्ग में विशेष रुचि जागृत हुई। फलस्वरूप वीतराग-विज्ञान पाठशाला एवं वाचनालय की स्थापना की गई।

—सुंदरलाल वैद्य

वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की निरीक्षण रिपोर्ट

श्री पंडित रमेशचंदजी इटावावालों ने बंडा (सन्मति वी० वि० पाठशाला एवं शांतिनाथ वी० वि० पाठशाला), कदवां, बरा, दमोह, जवेरा (वी०वि० पाठशाला एवं महिला वी०वि० पाठशाला), कटंगी, जबलपुर (हनुमानताल एवं भालदारपुरा), मढ़िया, करेली, इटारसी, उज्जैन, रतलाम, जावरा, दाहोद, कलिंजरा, बड़ौदिया, बागीदौरा, नौगांवां, अरथूना, आंजना, बांसवाड़ा, उदयपुर, भीलवाड़ा, अजमेर इत्यादि नगरों में चल रही पाठशालाओं का निरीक्षण किया। इससे पूर्व में निरीक्षण की गई पाठशालाओं की रिपोर्ट गत अंक में प्रकाशित की थी।

निरीक्षक महोदय के इस प्रवास के दौरान गाँव-गाँव में तत्त्वज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित करने में बल मिला। लोगों में उनके प्रवचनों से तत्त्वजिज्ञासा जागृत हुई। फलस्वरूप ग्वालियर (इंद्रगंज) तथा भीलवाड़ा (आमलियों की बाड़ी) में नवीन पाठशालाएँ स्थापित हुईं।

— मंत्री, पाठशाला समिति

आवश्यकता है - एक ऐसे विद्वान् की जो स्थानीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला एवं शिक्षण संस्था में अध्यापन का कार्य कर सके। श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड, जयपुर द्वारा प्रशिक्षित अध्यापक को प्राथमिकता। वेतन योग्यतानुसार। संपर्क करें-

उग्रसेन बंडी, बंडी गारमेंट्स, बड़ा बाजार, उदयपुर (राज०)

पर्यूषण पर्व के अवसर पर प्रवचनार्थ

सोनगढ़ की ओर से एक सौ अड़तीस विद्वान भेजे गये

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ के पास अनेकानेक नगरों से पर्यूषण पर्व में प्रवचनार्थ भेजने के लिये २०० से अधिक नगरों से आग्रहपूर्ण आमंत्रण आये हैं, पर विद्वानों की कमी के कारण सभी स्थानों पर विद्वान भेजना संभव नहीं हो सका है। ३१ अगस्त, १९८० तक जितने विद्वानों का जहाँ-जहाँ भेजना निश्चित हुआ है, उनकी सूची यहाँ दी जा रही है, शेष नाम प्राप्त होने पर प्रकाशित किये जायेंगे।

१. राजकोट - पंडित लालचंदभाई मोदी, बम्बई; **२. फतेपुर (गुज०)** - पंडित बाबूभाई मेहता, फतेपुर; **३. इंदौर** - पंडित फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री, वाराणसी; **४. फिरोजाबाद** - डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल, जयपुर; **५. नैरोबी (अफ्रीका)** - पंडित हिम्मतभाई जोबालिया, सोनगढ़; **६. रायपुर** - पंडित ज्ञानचंदजी, विदिशा; **७. दिल्ली** - पंडित शशिभाई, भावनगर; **८. दादर** - पंडित चिमनभाई ठारसी, बम्बई; **९. मेरठ** - पंडित नेमीचंदजी पाटनी, आगरा; **१०. छिंदवाड़ा** - पंडित केसरीचंदजी धवल, बुलढाना; **११. सहारनपुर** - पंडित धन्नालालजी, ग्वालियर; **१२. करहल** - पंडित रतनचंदजी भारिल्ल, जयपुर; **१३. जयपुर** - पंडित उत्तमचंदजी, सिवनी; **१४. जबलपुर** - पंडित कन्हैयालालजी शाह, दाहोद; **१५. नागपुर** - पंडित प्रियंकरजी जैन, महाराष्ट्र; **१६. खनियांधाना** - पंडित हेमराजजी, भोपाल; **१७. पथरिया** -ब्रह्मचारी बाबूलालजी, बरायठा; **१८. खुरई** - ब्रह्मचारी झमकलालजी, कुरावड़; **१९. केकड़ी** - ब्रह्मचारी यशपालजी, एलोरा; **२०. पिपरई** - ब्रह्मचारी आत्मानंदजी; **२१. कूण** - ब्रह्मचारी दवाचंदजी, उदयपुर; **२२. घुवारा** -ब्रह्मचारी नित्यानंदजी; **२३. जगदलपुर** - ब्रह्मचारी रमेशचंदजी, मलकापुर; **२४. सागर** - ब्रह्मचारी हेमचंदजी, भोपाल; **२५. मोरार** - ब्रह्मचारी संतोषकुमारजी जैन, सोनगढ़; **२६. सीकर** - पंडित राजकुमारजी, जयपुर; **२७. शामली** - ब्रह्मचारी अभिनंदनकुमारजी शास्त्री, जयपुर; **२८. तलोद** - ब्रह्मचारी कैलाशचंद्रजी अचल, जयपुर; **२९. बम्बई** - पंडित अभयकुमारजी शास्त्री, जयपुर; **३०. भावनगर** - पंडित जतीशचंदजी शास्त्री, जयपुर; **३१. गुना** - पंडित प्रदीपकुमारजी झांझरी, जयपुर; **३२. जसवंतनगर** - पंडित श्रेयांशकुमारजी सिंघई, जयपुर; **३३. शाहपुरा** - पंडित राकेशकुमारजी शास्त्री, जयपुर; **३४. बड़ौदा** - पंडित भानुकुमारजी शास्त्री, जयपुर; **३५. करेली** - पंडित सुदीपकुमारजी शास्त्री, जयपुर; **३६. झालावाड़** - पंडित शिखरचंदजी शास्त्री, जयपुर; **३७. वकस्वाहा** - पंडित प्रेमचंदजी शास्त्री, जयपुर; **३८. बार्शी** - पंडित शांतिकुमारजी पाटिल, जयपुर; **३९. अनसिंह** - पंडित महावीरजी पाटिल, जयपुर; **४०. रांझी** - पंडित नरेन्द्रकुमारजी जैन, जयपुर; **४१. बीड़** - पंडित विनोदकुमारजी जैन, जयपुर; **४२. हिन्दपुरा (आ०प्र०)** - पंडित पद्माकर मुंजले, जयपुर; **४३. ग्वालियर** - पंडित सुशीलकुमारजी, राघोगढ़; **४४. अहमदाबाद**

(खाड़िया) - पंडित नेमचंदभाई, रखियाल; **४५. हैदराबाद** - पंडित चिमनभाई ताराचंद कामदार, सोनगढ़; **४६. अजमेर** - पंडित कपूरचंदजी, करेली; **४७. अहमदाबाद (नवरंगपुरा)** - पंडित हीराभाई भीखाभाई, बम्बई; **४८. शिकोहाबाद** - पंडित मणिभाई भोलाभाईजी, मुनई; **४९. उदयपुर** - पंडित ज्ञानचंदजी, करेली; **५०. भीलवाड़ा** - पंडित हरकचंदजी बिलाला, अशोकनगर; **५१. लोहारदा** - पंडित उग्रसेनजी बंडी, उदयपुर; **५२. कोटा** - पंडित विमलचंदजी झांझरी, उज्जैन; **५३. ललितपुर** - पंडित देवीलालजी, उदयपुर; **५४. खंडवा** - पंडित रमणलाल माणिकलालजी शाह, रखियाल; **५५. विदिशा** - पंडित दीपचंदजी, इंदौर; **५६. कलकत्ता** - पंडित शुकनराजजी जैन, सोनगढ़; **५७. मंदसौर** - पंडित सुजानमलजी मोदी, सोनगढ़; **५८. भोपाल** - पंडित ज्ञानचंदजी, जबलपुर; **५९. सिंगोड़ी** - पंडित कपूरचंदजी भायजी, सागर; **६०. वाशीम** - पंडित कांतिकुमारजी पाटनी, इंदौर; **६१. आगरा** - पंडित गंभीरचंदजी वैद्य, अलीगंज; **६२. देहरादून** - पंडित कैलाशचंदजी, बुलंदशहर; **६३. बांकानेर** - पंडित नवलचंदजी शाह, सोनगढ़; **६४. जांबुड़ी** - पंडित वेल्जीभाई, उज्जैन; **६५. नागदा** - पंडित छगनलालजी, लोहरदा; **६६. दाहोद** - पंडित पूनमचंद माणिकचंदजी, बड़ौदा; **६७. बंडा (बेलई)** - पंडित शांतिकुमारजी शास्त्री, मौ; **६८. बड़वाह** - पंडित रंगलालजी, कुरावड़; **६९. ललगाँव** - पंडित मधुकरजी जैन; **७०. सनावद** - पंडित नंदकिशोरजी, विदिशा; **७१. घाटकोपर** - पंडित रमेशचंदजी जैन, ललितपुर; **७२. मौ** - पंडित नंदकिशोरजी, विदिशा; **७३. मंडला** - पंडित मिश्रीलालजी चौधरी, गुना; **७४. मेहसाना** - पंडित चन्दुलालशाह, बम्बई; **७५. बंगलोर** - पंडित पूनमचंदजी छाबड़ा, इंदौर; **७६. गौरझामर** - पंडित नरोत्तमदासजी, खड़ेरी; **७७. अलवर** - पंडित वीरेन्द्रकुमारजी, करहल; **७८. रणासण** - पंडित रमणभाई, तलोद; **७९. बोटाद** - पंडित छबीलभाई, सुरेन्द्रनगर; **८०. सुरेन्द्रनगर** - पंडित चिमनभाई बाघवाड़ी, बम्बई; **८१. रखियाल** - पंडित अशोकभाई, खंडवा; **८२. चंदेरी** - पंडित चिंतामणिजी जैन, मौ; **८३. रुड़की** - पंडित अरविंदकुमारजी, करहल; **८४. इंदौर (नेमीनगर)** - पंडित कस्तूरचंदजी, बेगमगंज; **८५. इंदौर (तिलकनगर)** - पंडित नेमीचंदजी, मलकापुर; **८६. आंरोन** - पंडित बाबूलालजी टोपीवाला, बीना; **८७. मलकापुर** - पंडित चंपालालजी जैन, ललितपुर; **८८. एत्मादपुर** - पंडित लक्ष्मीचंदजी, शहादरा; **८९. बूंदी**- पंडित मांगीलालजी, उदयपुर; **९०. सेमारी** - पंडित कैलाशचंदजी, अशोकनगर; **९१. मुंगावली** - पंडित धर्मचंदजी, बड़ौत; **९२. बारां** - पंडित हेमचंदजी 'चेतन', जयपुर; **९३. कुम्भराज** - पंडित ताराचंदजी, खड़ेरी; **९४. बयाना** - पंडित रामकिशोरजी, कोटा; **९५. छतरपुर** - पंडित मोतीलालजी, करेली; **९६. मंडी बामोरा** - पंडित धर्मचंदजी, अशोकनगर; **९७. महिदपुर** - पंडित घासीलालजी, गुना; **९८. शिवपुरी** - पंडित लालजीरामजी, विदिशा; **९९. हरदा** - पंडित ज्ञानचंदजी पोस्टमोटर; **१००. विदिशा** - पंडित प्रबोधचंदजी, छिंदवाड़ा; **१०१. डोंगरगढ़** - पंडित रिखबचंदजी, मंदसौर; **१०२. इटारसी** - पंडित शिखरचंदजी, विदिशा; **१०३. जावरा** - पंडित रमेशचंदजी, इटावा;

१०४. गंजबासोदा - पंडित देवेन्द्रकुमारजी, सिंगोड़ी; **१०५. बड़ामलहरा** - पंडित स्वतंत्रजी जैन, बकस्वाहा; **१०६. ग्वालियर** - पंडित मक्खनलालजी, मौ; **१०७. पिंडरई** - पंडित हीरालालजी, मौ; **१०८. कुरावड़** - पंडित चंदूभाई, फतेपुर; **१०९. धार** - पंडित पन्नालालजी, करेली; **११०. गोरमी** - पंडित ताराचंदजी, खनियांधाना; **१११. उज्जैन** - पंडित महेन्द्रकुमारजी, बरायठा; **११२. उस्मानाबाद** - पंडित दंतोपंतजी लोखंडे, मेदखड; **११३. सेलू** - पंडित नेमीचंदजी पाटनी, कन्नड़; **११४. शिरपूर** - पंडित चंपकलालजी, बम्बई; **११५. रामटेक** - पंडित हरकचंदजी गंगवाल; **११६. बसमतनगर** - पंडित नेमीनाथ राजारामजी; **११७. पिड़ावा** - पंडित मानमलजी, जयपुर; **११८. आगरा** - पंडित प्रकाशचंदजी पांड्या, इंदौर; **११९. राघौगढ़** - पंडित फूलचंदजी झांझरी, उज्जैन; **१२०. जबेरा** - पंडित माँगीलालजी, गुना; **१२१. हिम्मतनगर** - पंडित प्राणभाई पुरुषोत्तमजी कामदार, बम्बई; **१२२. फुटेरा** - पंडित मगनलालजी, अशोकनगर; **१२३. कोलारस** - पंडित गिरनारीलालजी जैन; **१२४. हिंगोली** - पंडित गोविंदरामजी, खड़ेरी; **१२५. सिवनी** - पंडित शुभचंदजी, विदिशा; **१२६. जेसीनगर** - पंडित कोमलचंदजी, टड़ा; **१२७. सिंग्रामपुर** - पंडित कुंदनलालजी, पथरिया; **१२८. बरायठा** - पंडित विजयकुमारजी शास्त्री धर्मालंकार; **१२९. गठाकोटा** - पंडित देवेन्द्रकुमारजी जैन, बरायठा; **१३०. कालेगांव** - पंडित मोहनभाई, घोड़नदी; **१३१. सबलपुर** - पंडित सुमनभाई सेठ, बम्बई; **१३२. सतना** - पंडित सेठ जवाहरलालजी, विदिशा; **१३३. लकड़वास** - पंडित डोगरमलजी, उदयपुर; **१३४. सूरत** - पंडित झावेरीलालजी, दाहोद; **१३५. मलाड़** - पंडित हिम्मतलालजी डगली, विछिया; **१३६. दिल्ली (वल्लभनगर)** - पंडित शिखरचंदजी जैन, बड़ौत; **१३७. लीमड़ी** - पंडित शांतिलालजी रेवाशंकरजी, सोनगढ़; **१३८. भिंड** - पंडित प्रहलाददासजी, मंदसौर।

नोट— नं० २६ से ४२ तक के १७ विद्वान श्री टोडरमल दि० जैन सिद्धांत महाविद्यालय जयपुर के छात्र हैं। इन १७ विद्यार्थियों के अतिरिक्त छात्र श्री विपिनकुमार एवं श्री कमलेशकुमार - डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल के साथ फिरोजाबाद; श्री योगेशचंद एवं श्री महेन्द्रकुमार - पंडित श्री नेमीचंदजी पाटनी के साथ मेरठ; श्री अशोक गोयल एवं श्री कैलाशचंद मलैया - पंडित श्री रतनचंदजी भारिल्ल के साथ करहल; श्री अशोक लुहाड़िया - पंडित श्री ज्ञानचंदजी विदिशा के साथ रायपुर; श्री वीरसागर - पंडित अभयकुमारजी शास्त्री के साथ बम्बई (मुम्बादेवी) जा रहे हैं। इसप्रकार कुल २५ विद्यार्थी श्री टोडरमल दि० जैन महाविद्यालय से पर्यूषण पर्व के अवसर पर जा रहे हैं।

प्रबंध संपादक की कलम से

कृपया निम्नलिखित सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें:—

(१) आत्मधर्म के ग्राहकों को 'पुस्तक भेंट कूपन' अक्टूबर के अंक में प्रकाशित किया जायेगा।

(२) भेंटस्वरूप पुस्तक उन्हीं ग्राहकों को भेजी जा सकेगी जो 'भेंट कूपन' भरकर भेजेंगे। बिना 'भेंट कूपन' के पुस्तक भेजना संभव नहीं होगा।

(३) गतवर्ष अनेक ग्राहकों की शिकायत रही कि उन्हें भेंटस्वरूप पुस्तक प्राप्त नहीं हुई, जबकि हमारे कार्यालय से उन सभी ग्राहकों को भेंटस्वरूप पुस्तकें भेजी गई हैं—जिनके कूपन हमें प्राप्त हुए हैं। कुछ लोगों को न मिलने की शिकायत आने पर दुबारा भी पुस्तकें भेजी गईं। परंतु जिन्होंने 'भेंट कूपन' ही भरकर नहीं भेजे उन्हें हम पुस्तक कैसे भेजते? कृपया व्यवस्था बनाने में सहयोग करें तथा 'भेंट कूपन' अवश्य भरकर भेजें।

(४) अभी जिन ग्राहकों को गतवर्ष की भेंट पुस्तक नहीं मिली हो, वे अपना 'भेंट कूपन' भेजकर उक्त पुस्तक प्राप्त कर सकते हैं।

(५) जिन लोगों का चंदा समाप्त हो गया है, उन्हें मनिआर्डर फार्म भेजे गये हैं। कृपया अपनी सदस्यता शुल्क १ अक्टूबर के पूर्व अवश्य भिजवा दें, अन्यथा आप भेंट पुस्तक से वंचित रह जायेंगे।

(६) पर्यूषण पर्व पर जो नए ग्राहक बनेंगे उन्हें अक्टूबर से ही ग्राहक बनाया जाएगा तथा अक्टूबर से ही आत्मधर्म भेजा जाएगा।

(७) अभी तक सत्य की खोज भाग २ के ६२४० तथा संपूर्ण के १२५० आर्डर प्राप्त हुए थे, उन्हें पुस्तकें भेजी जा चुकी हैं। अब जो भी आर्डर प्राप्त हो रहे हैं, उन्हें क्रमशः पुस्तकें भेजी जा रही हैं। जिन्हें पुस्तकें प्राप्त न हुई हों वे पत्र द्वारा अवगत कराने का कष्ट करें।

नया संस्करण

डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल की सशक्त लेखनी द्वारा प्रसूत

क्रमबद्धपर्याय

का द्वितीय संस्करण छपकर तैयार है। शीघ्र मंगा लें।

मूल्य :

साधारण : २.५० रुपये - सजिल्द : ३.५० रुपये - प्लास्टिक कवरसहित : ४.५० रुपये

नोट - दस हजार का प्रथम संस्करण हाथोंहाथ उठ गया। अब बारह हजार का यह द्वितीय संस्करण प्रस्तुत है। वर्तमान में दो हजार के जो आर्डर पेंडिंग थे, उन्हें क्रमशः भेज रहे हैं।

कहान कथा : महान कथा

आलेख : अखिल बंसल, एम. ए.
चित्रकथा : अनन्त कुशवाहा

Registration. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन *

समयसार	१४-००
मोक्षशास्त्र	१२-००
समयसार कलश टीका	६-००
प्रवचनसार	१२-००
पंचास्तिकाय	७-५०
नियमसार	७-५०
नियमसार पद्यानुवाद	०-४०
अष्टपाहुड़	१०-००
वृहद् द्रव्यसंग्रह	८-००
समयसार नाटक	७-५०
द्रव्यदृष्टिप्रकाश भाग ३	४-५०
समयसार प्रवचन भाग १	६-००
समयसार प्रवचन भाग २	७-००
समयसार प्रवचन भाग ३	७-००
समयसार प्रवचन भाग ४	८-००
पुरुषार्थसिद्धयुपाय	५-००
धर्म की क्रिया	२-००
श्रावकधर्म प्रकाश	४-००
द्रव्यसंग्रह	१-५०
प्रवचन परमागम	२-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-५०
जैनतत्त्व मीमांसा	६-००
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०
वीतराग-विज्ञान भाग ३	१-००
मुक्ति का मार्ग	१-००
बालपोथी भाग १	०-६०
बालपोथी भाग २	०-६०
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
बालबोध पाठमाला भाग ३	०-८५
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-४०
सुंदरलेख बालबोध पाठमाला भाग १	०-४०
A Short Reader to Jain Doctrines	०-७५
Tirthankar Bhagwan Mahavira	०-४०
Know Thyself	०-४०
मोक्षमार्गप्रकाशक	६-००
पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	५-००
" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)	२-००
मैं कौन हूँ ?	१-००
तीर्थंकर भगवान महावीर	०-४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	०-२५
अर्चना (पूजा संग्रह)	०-४०
मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)	०-५०
युगपुरुष श्री कानजीस्वामी	१-००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३-००
सत्य की खोज (भाग १)	२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय — साधारण :	२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय — सजिल्द :	३-००
धर्म के दशलक्षण — साधारण :	४-००
धर्म के दशलक्षण — सजिल्द :	५-००
क्रमबद्धपर्याय — साधारण :	२-५०
क्रमबद्धपर्याय — सजिल्द :	३-५०
क्रमबद्धपर्याय — प्लास्टिक कवर :	४-५०

Licence No.
P. P. 16-S.S.P. Jaipur City Dn.
Licensed to Post
Without Pre-Payment

If undelivered please return to :
प्रबन्ध-संपादक, आत्मधर्म
ए-४, टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर
जयपुर ३०२००४